प्राप्ति स्थान :—

१—पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज साहेब का हितेच्छु श्रावक मण्डल, चाँदनी चौक, रतलाम (मालवा)

२—श्री जैन रत्न पुस्तकालय, सिंहपोळ, जोधपुर (मारवाड़)

३—श्री श्रमणोपासक जैन नवयुवक मित्र मण्डल, सैलाना (मालवा)

इसके अतिरिक्त यह पुस्तक उदयपुर की शिक्षण संस्था, वीकानेर की सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था तथा देहली के श्री जैन धर्म सामग्री भण्डार से भी मिल सकेगी।

मुद्रक—
के. हमीरमल लूणियाँ जैन
अध्यक्ष—दि डायमण्ड जुबिली प्रेस, अजमेर

❀ प्रकाशक के दो शब्द ❀

श्री साधुमार्गी जैन समाज में श्रीयुत रतनलालजी डोशी सैलाना वाले अच्छे लेखक एवं साहित्य सर्जक हैं। आपकी सचोट एवं निर्भीक लेखनी से सम्पादित यह "मुख-वस्त्रिका-सिद्धि" नामक पुस्तक समाज को अतीव उपयोगी एवं लाभप्रद ज्ञात होने से प्रथम संस्करण की पुस्तकें स्वल्प समय में ही बिक चुकीं और पंजाब आदि प्रान्तों से इसकी जोरदार माँग होने के कारण इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण संशोधन एवं परिवर्द्धन के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें भाषा संयम पर भी विशेष ध्यान दिया गया है।

इसके प्रथम संस्करण के प्रकाशन में द्रव्य सहायता श्री० जुगराजजी रतनलालजी, बरेली वालों ने दी थी इस कारण इस पुस्तक को अर्द्ध मूल्य ⁻)॥ में ही वितरण की थी। परंतु इस समय यूरोपीय महायुद्ध के कारण कागजादि छपाई के साधनों की मँहगाई के कारण बहुत मँहगी पड़ती है। परंतु प्रयत्न करने पर भीनासर निवासी श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी तोलारामजी बाँठिया ने छपाई का अर्द्ध-व्यय अपनी तरफ से देना स्वीकार किया है। इस कारण श्रीमान् सेठ साहब की इस उदारता की प्रशंसा करते हुए इस द्वितीय संस्करण को भी अर्द्ध मूल्य में ही देना ठहराया है और जनता से अनुरोध है कि वह इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार करके लाभ उठावे।

भवदीय—

रतलाम,
ता० १५-८-४१

बालचन्द श्रीश्रीमाल
सैक्रेटरी—श्री सा० जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी म०
की सं० का हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम

समर्पण

पूजनीय पूज्य महात्माओ !

यह "मुख-वस्त्रिका-सिद्धि" नामक छोटा सा निवन्ध लिखा गया है, सो केवल आप महात्माओं की ज्ञान प्रसादी के आधार पर ही है। इस तुच्छ सेवक ने आप पूज्यवरों के विशाल ज्ञान भण्डारों से इस विषयक जो यत् किञ्चित् ज्ञान पाया है, उसी के अनुसार उचित साधन जुटा कर यह पुष्प निष्पन्न किया गया है।

आप महर्षियों ने शास्त्र सम्मत एवं सुविहितों-सुसाधुओं द्वारा आचरित "मुख-वस्त्रिका" को सहर्ष धारण कर रखी है।

यद्यपि विरोधियों द्वारा आप महानुभावों पर असहनीय एवं नीच शब्दों द्वारा कई वार आक्रमण हुए हैं और हो रहे हैं। तथापि आप अपने विरोधियों की हरकतों पर ध्यान नहीं देते हुए निज ध्येय पर अडग रह कर जैन शासन की उन्नति एवं सुविहित पद्धति का प्रचार कर रहे हैं। अतः एव यह छोटा सा निवन्ध सहर्ष आप श्री के चरणों में समर्पित करता हूँ।

चरणानुचर—

"रत्न"

धन्यवाद

मान्यवर जुगराजजी रतनलालजी साहब नाहर !

आपने इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के प्रकाशन में द्रव्य सहायता प्रदान कर जो समाज सेवा की है, वह वास्तव में प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग ही है।

आये दिन धार्मिक प्रवृत्ति पर विरोधी लोग आक्रमण कर, भद्र जनता को भ्रम में डालकर श्रद्धा भ्रष्ट करने का प्रयत्न करते रहते हैं। किन्तु आप महानुभाव ने सत् प्रवृत्ति एवम् सम्यक्त्व का रक्षण कर भद्र जनता को सम्यक्त्व में स्थिर करने रूप इस निबन्ध के प्रकाशन में अर्थ सहायता प्रदान कर "स्थिरीकरण" नामक शास्त्र सम्मत षष्ठम दर्शनाचार का पालन किया है, और साथ में स्वसमाज रक्षण रूप महान् कार्य भी किया है।

यद्यपि आपकी भावना इस पुस्तक को अमूल्य वितरण करने की थी, किन्तु, अमूल्य वितरण में पुस्तकों का दुरुपयोग भी बहुधा होता है, यह विचार कर ही अर्द्ध मूल्य रक्खा गया है, तथापि आपकी ओर से तो यह पुस्तक अमूल्य ही थी, क्योंकि अर्द्ध मूल्य भी समाजोपयोगी कार्यों में ही व्यय होगा। उससे आपने अपना कोई सम्बन्ध ही नहीं रक्खा।

अतएव आपके इस समयोचित एवम् उपयोगी दान के लिए आपको अनेकानेक धन्यवाद है।

इस पुस्तक की द्वितीयावृत्ति के प्रकाशन में श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल के प्रयत्न से "भीनासर निवासी श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी तोलारामजी बाँठिया" ने छपाई आदि का आधा खर्च अपनी तरफ से प्रदान किया है, एतदर्थ आपका भी मैं आभारी हूँ और कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

विनीत—"रत्न"

द्वितीयावृत्ति की विशेषता

तोन वर्ष के बाद "मुख-वस्त्रिका-सिद्धि" नूतन रूप (द्वितीयावृत्ति) में प्रिय पाठकों की सेवा में उपस्थित हो रही है। एक तो गुजराती प्रेस, दूसरा प्रूफ शुद्धि का समुचित प्रबन्ध नहीं हो सकने के कारण प्रथमावृत्ति में अशुद्धियाँ बहुत रह गईं थी, किन्तु दूसरी आवृत्ति में यह खामी बहुत कुछ दूर हो गई है। इसके सिवाय अन्तिम प्रकरण एवं परिशिष्ट नम्बर २ इस आवृत्ति की खास विशेषता है।

आशा है कि सुज्ञ पाठक इससे समुचित लाभ उठावेंगे।

सैलाना
आषाढ़ शुक्ला ८
विक्रम सम्वत् १९९८

विनीत—
रतनलाल डोशी

भूमिका

यह सर्व विदित है कि किसी भी कार्य में निमित्त उपादान आदि कई कारण होते हैं। तदनुसार धर्मरूप कार्य में सम्यक् ज्ञान सच्ची श्रद्धा के सिवाय कुछ आगमोक्त बाह्य कारण भी अनिवार्य हैं।

दुनियाँ जानती है कि—जैन धर्म दया प्रधान धर्म है, दया की आराधना के लिये जैनागमों में गणधरों ने धर्मोपकरणों की परिगणना की है। इन उपकरणों में कई खासकर श्रमणों के लिये हैं और कुछ श्रावकों के लिये भी उपयोगी हैं।

इन आगमोक्त धर्मोपकरणों में "मुख-वस्त्रिका" समस्त जैन जनता के लिये अत्यन्त आवश्यक एवम् सर्वोपयोगी है। क्योंकि मुख-वस्त्रिका के धारण करने से न केवल आगम आज्ञा की आराधना ही होती है, किन्तु पञ्च-भौतिक जीवों में वायुकायिक आदि जीवों की रक्षा भी अच्छी तरह होती है। शिष्टता का पालन तथा उच्छिष्ट परिहार (थूँक उछलना) आदि कई अन्य दृष्ट फल भी मुख-वस्त्रिका धारण करने से हैं। अतएव श्वेताम्बर जैन समाज के सभी प्राचीन आचार्यों ने साधु के उपकरणों में मुख-वस्त्रिका की

प्रधान उपयोगिता मान्य की है, यहाँ तक कि अचेलक जिन-कल्पी मुनि जो कि वस्त्र तक नहीं रखते, उनके लिये भी मुख-वस्त्रिका रखना अनिवार्य बतलाया गया है, और जिन-कल्पी मुनि मुख-वस्त्रिका रखते भी थे। इसी प्रकार जैन श्रावक वर्ग के लिये भी सामायिक आदि धर्म क्रिया में रजोहरण और मुख-वस्त्रिका रखना अनिवार्य है। इन उपकरणों के होने से ही सामायिक पौषधादि क्रियाएँ पूर्ण शुद्धता पूर्वक होना कहा जाता है।

ऐसे परमोपयोगी धर्मोपकरण की आवश्यकता को मानना, और दूसरों से मनवाना जिनाज्ञा का आराधक होना है। किन्तु अपनी मति शिथिलता या कष्ट भीरुता अथवा हठाग्रहता से इसे नहीं मानना, निस्सन्देह जिनाज्ञा की विराधना, एवं भूत दया की अवहेलना करना है, और विशेषतया 'विपरीत' नामक मिथ्यात्व का सेवन करना है।

जो मुख-वस्त्रिका जैनियों के लिये—हिन्दुओं की शिखा एवं ब्राह्मणों की जनेऊ की तरह चिह्न और प्रधान धर्मोपकरण है, इसके प्रचुर प्रचार में प्रमाण रूप यह निबन्ध लिखकर सैलाना निवासी सुश्रावक श्री रतनलालजी डोशी ने जैन समाज का बहुत बड़ा उपकार किया है। डोशीजी की गवेषणा, धारणा, विषयों की क्रम-बद्ध योजना और भाषा सम्बन्धी सरलता आदि सभी सराहने लायक हैं।

यह बात सत्य है कि वर्तमान काल, पारस्परिक विरोध परिहार व प्रेम-प्रचार की अपेक्षा रखता है, किन्तु दिनो–दिन स्वयं शिथिल होते हुए धार्मिक विधानों में उत्तेजना की भी आवश्यकता उससे कम नहीं है। महदाश्चर्य है कि इसी छल से कितने ही विघ्न-सन्तोषी लोग अपनी विषम प्रकृति के कारण शान्त समाज पर अकारण अनुचित आक्षेप कर अशान्त वातावरण उत्पन्न कर देते हैं। अभी थोड़े ही समय पूर्व अपना हठवाद दूसरों पर लादने में मस्त ऐसे मरुधर केशरी कहे जाने वाले ज्ञानसुंदरजी ने "मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास" नामक कल्पित पोथा लिखकर प्रकाशित किया है, उसमें एक प्रकरण मुख-वस्त्रिका विषयक कुतर्क युक्त और अनर्थमय लिखकर सत्प्रवृत्ति पर कुठाराघात किया है।

हमें सन्तोष है कि दूरदर्शी श्रावक डोशीजी की संयत और सप्रमाण भाषा ने इस निवन्ध को सुन्दर वना दिया है। इस छोटे से निवन्ध के पूर्वार्द्ध में "नाभा-शास्त्रार्थ" पर एक दृष्टि डाल कर बाद में मुख-वस्त्रिका का मुँह पर वाँधना अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है; और उत्तरार्द्ध में मरुधर केशरी के मुख-वस्त्रिका विषयक कुतर्क रूप आक्रमणों का सप्रमाण प्रतिकार किया गया है, जो कि युक्तियों से परिमार्जित, परिमित तथा उचित है, इस प्रयास में डोशीजी का उचित परिश्रम पूर्ण सफल है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

प्रधान उपयोगिता मान्य की है, यहाँ तक कि अचेलक जिन-कल्पी मुनि जो कि वस्त्र तक नहीं रखते, उनके लिये भी मुख-वस्त्रिका रखना अनिवार्य बतलाया गया है, और जिन-कल्पी मुनि मुख-वस्त्रिका रखते भी थे। इसी प्रकार जैन श्रावक वर्ग के लिये भी सामायिक आदि धर्म क्रिया में रजोहरण और मुख-वस्त्रिका रखना अनिवार्य है। इन उपकरणों के होने से ही सामायिक पौषधादि क्रियाएँ पूर्ण शुद्धता पूर्वक होना कहा जाता है।

ऐसे परमोपयोगी धर्मोपकरण की आवश्यकता को मानना, और दूसरों से मनवाना जिनाज्ञा का आराधक होना है। किन्तु अपनी मति शिथिलता या कष्ट भीरुता अथवा हठाग्रहता से इसे नहीं मानना, निस्सन्देह जिनाज्ञा की विराधना, एवं भूत दया की अवहेलना करना है, और विशेषतया 'विपरीत' नामक मिथ्यात्व का सेवन करना है।

जो मुख-वस्त्रिका जैनियों के लिये—हिन्दुओं की शिखा एवं ब्राह्मणों की जनेऊ की तरह चिह्न और प्रधान धर्मोपकरण है, इसके प्रचुर प्रचार में प्रमाण रूप यह निबन्ध लिखकर सैलाना निवासी सुश्रावक श्री रतनलालजी डोशी ने जैन समाज का बहुत बड़ा उपकार किया है। डोशीजी की गवेषणा, धारणा, विषयों की क्रम-बद्ध योजना और भाषा सम्बन्धी सरलता आदि सभी सराहने लायक हैं।

यह बात सत्य है कि वर्तमान काल, पारस्परिक विरोध परिहार व प्रेम-प्रचार की अपेक्षा रखता है, किन्तु दिनों-दिन स्वयं शिथिल होते हुए धार्मिक विधानों में उत्तेजना की भी आवश्यकता उससे कम नहीं है। महदाश्चर्य है कि इसी छल से कितने ही विघ्न-सन्तोषी लोग अपनी विषम प्रकृति के कारण शान्त समाज पर अकारण अनुचित आक्षेप कर अशान्त वातावरण उत्पन्न कर देते हैं। अभी थोड़े ही समय पूर्व अपना हठवाद दूसरों पर लादने में मस्त ऐसे मरुधर केशरी कहे जाने वाले ज्ञानसुंदरजी ने "मूर्तिपूजा का प्राचीन इतिहास" नामक कल्पित पोथा लिखकर प्रकाशित किया है, उसमें एक प्रकरण मुख-वस्त्रिका विषयक कुतर्क युक्त और अनर्थमय लिखकर सत्प्रवृत्ति पर कुठाराघात किया है।

हमें सन्तोष है कि दूरदर्शी श्रावक डोशीजी की संयत और सप्रमाण भाषा ने इस निबन्ध को सुन्दर बना दिया है। इस छोटे से निबन्ध के पूर्वार्द्ध में "नाभा-शास्त्रार्थ" पर एक दृष्टि डाल कर बाद में मुख-वस्त्रिका का मुँह पर बाँधना अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है; और उत्तरार्द्ध में मरुधर केशरी के मुख-वस्त्रिका विषयक कुतर्क रूप आक्रमणों का सप्रमाण प्रतिकार किया गया है, जो कि युक्तियों से परिमार्जित, परिमित तथा उचित है, इस प्रयास में डोशीजी का उचित परिश्रम पूर्ण सफल है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

इधर वर्षों से मुख-वस्त्रिका के खण्डन मण्डन में कई निवन्ध निकल चुके हैं। संहारकर्ता से संरक्षणकर्ता को अधिक अवधान, उद्योग व परिश्रम करना पड़ता है। तदनुसार खण्डन कर्ता के संमुख सभी मण्डनकर्ता की सावधानी अधिक ही है, किन्तु इस निवन्ध के लेखक की सावधानी सब से वढ़कर अधिक सफलता वाली है।

सद्वृत्ति रक्षा और उसका अधिकाधिक प्रचार मात्र ही इस निवन्ध लेखन का मुख्य और पवित्र उद्देश्य है।

सुज्ञ पाठक यदि पठन पाठन और मनन कर सत्य को अपनावेंगे तो लेखक का श्रम सफल होगा और उत्साह वढ़ेगा। इत्यलं विस्तरेण।

चैत्र कृष्ण ६
शुक्रवार
सम्वत् १६६४ विक्रमी

श्रीसंघ का हितेच्छु
"मुनि लक्ष्मीन्दु"

❀ विषय-सूची ❀

" णमोत्थुणं समणस्स भगवओ वद्धमाणस्स "

मुख-वस्त्रिका सिद्धि

विनय

दयामय तेरा हो आधार ।

मङ्गल दायक सिद्धि विनायक, सब सुख के दातार ।
जय जिनराज जगत हितकारी, भव दुःख भंजन हार ॥ १ ॥
सत्य धर्म पर जैनाभासक, करते कूट प्रहार ।
मिथ्या मान बड़ाई खातिर, तजते शुद्धाचार ॥ २ ॥
सु साधु की निन्दा करके, सेवे मायाचार ।
भ्रम में डाले भद्रिक जनको, कर मिथ्या प्रचार ॥ ३ ॥
खुले मुँह से वायु कायका, करते नित्य संहार ।
नाम धराते जैनी साधु, कर में करपत्ति धार ॥ ४ ॥
मिथ्या मत रत उन जीवों का, हो सन्मार्ग संचार ।
यही कामना है 'डोशी' की, होवे सफल विचार ॥ ५ ॥

मिथ्या-भिमान—महिमा—

वास्तव में अभिमान कोई वस्तु नहीं है, न कोई देव दानव है, न इन्द्र, महेन्द्र, या अहमेन्द्र है, यदि है तो केवल आत्मा का एक दुर्गुण ही, यह मिथ्याभिमान जिस व्यक्ति के हृदय में निवास करता है, वह अधमता (अधमगति) की ओर ही अग्रसर होता जाता है। कहा भी है कि—" माणेण अहमा गई " ऐसा दुर्गुण का भण्डार, सद्गुण का शत्रु, सत्य संहारक, न्याय नाशक, और कपट का कोष, यह—मिथ्याभिमान जब मानव हृदय में प्रवेश करता है, तब उसको अपवित्र कर देता है, जिससे सत्य एवं न्याय को वहां से विदा होना पड़ता है। इस मान महिपाल की दुराग्रह से गाढ़ मैत्री है। ये दोनों अभिन्न मित्र सदा साथ ही रहते हैं। जब तक उक्त दुर्गुण मानव हृदय में रहता है, तब तक, क्या मजाल जो सत्य और न्याय आंख उठा कर भी उधर देखले। ऐसे मिथ्याभिमान ग्रस्त व्यक्ति को कोई सज्जन पुरुष अगर हित शिक्षा देता है, तो वह भी उसको अरुचिकर ही होती है. और फल स्वरूप शिक्षादाता को भी कभी २ अपमानित होना पड़ता है। क्योंकि—ऐसे प्राणियों को तो अपने समान वृत्ति वाले की निज स्वभाव के अनुकूल बातें ही प्रिय लगती हैं, और वह उन्हीं को सुनने की इच्छा करता है।

ऐसे लोगों के लिये कुछ लिखकर समय एवम् समाज के द्रव्य का व्यय करना लेखक अनुचित समझता है, परन्तु जो लोग सरल हृदय के हैं, जिन्हें सत्या-सत्य के विचार करने की इच्छा है, उनके लिए और मुख्यत: स्वसमाज रक्षणार्थ ही यह प्रयास किया जारहा है।

विक्रम सम्वत् १९६१ में नाभा शहर की राज्य सभा में सात मध्यस्थों के समक्ष नाभा नरेश की अध्यक्षता में जनसमुदाय के सामने प्रसिद्ध विद्वान गणिवर्य श्री उदयचन्द्रजी महाराज साहब का श्री वल्लभ विजयजी (मूर्तिपूजक) साधु के साथ शास्त्रार्थ हुआ था। जिसमें गणिराज की शानदार विजय (जीत) हुई, और वल्लभ विजयजी बुरी तरह पराजित हुए (हारे)। जिसका लिखित फैसला ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी को मध्यस्थों व नाभा नरेश के हस्ताक्षरों से दिया गया था, और जिसमें गणिराज की विजय घोषित की गई थी, वह उसी समय गुरुमुखी भाषा में छपकर जनता में वितरण भी हो चुका।

अपनी इस करारी हार से लज्जित हो हमारे मूर्तिपूजक बन्धु अपनी खोई हुई इज्जत को पुन: प्राप्त करने, स्वसमाज को अन्धकार में रखने, तथा भोली-भाली जनता में अपनी धाक जमाने के लिए कोई मार्ग ढूंढने लगे। आखिर आकाश पाताल एक करने और पानी की तरह द्रव्य बहाने पर लग-भग डेढ़ वर्ष के बाद

एक नूतन–नकली–(जाली) फैसला तैयार कराया, और शाम दामादि नीति से सात में से केवल तीन मध्यस्थों के और दो अन्य व्यक्ति (जो मध्यस्थों में नहीं थे) के हस्ताक्षर करवा कर उस मन-घढ़न्त फैसले को छपवा दिया। जब यह नकली फैसला प्रकाश में आया तब हमारी समाज को अपने मूर्तिपूजक वन्धुओं की इस चालाकी का पता लगा, और उसी समय जन साधारण के भ्रम निवारणार्थ एवम् सत्य रक्षणार्थ पञ्जाव के भाइयों ने उस नकली फैसले की पोल प्रकट करने को एक ट्रेक्ट द्वारा उसका खण्डन एवम् सत्य वस्तु स्थिति का दिग्दर्शन कराया। अस्तु,

गत कार्तिक मास में हमारे पूर्व परिचित कल्पित फैसले की पुनरावृत्ति अजमेर निवासी श्रीयुत् हीराचन्दजी (मू० पू० जैन) ने की, जिसके प्रत्युत्तर में उसी समय श्रीमान् कल्याणमलजी साहव वैद ने सम्वत् १९६२ के इस मन-घड़न्त फैसले की पॉलिसी का उद्‌घाटन करने वाले ट्रेक्ट " पीताम्वरी पराजय " की पुनः आवृत्ति प्रकाशित कर फैलते हुए तिमिर को रोक दिया।

तदुपरान्त इस पीताम्वरी पराजय नामक ट्रेक्ट के उत्तर में 'रत्न प्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला, फलौदी (मारवाड़)' से " नाभा नरेश का असली फैसला " नामक एक चौदह पेजी ट्रेक्ट जो अजमेर से मुद्रित हुवा है, प्रकट किया गया। पर जव हम इस फलौदी के कहे जाने वाले असली फैसले पर विचार करते हैं

तो—यह प्रमाणित होता है कि—" अजब रफ्तार वेढङ्गी जो पहिले थी, वो—अब भी है। " लेखक महाशय ने 'पीताम्बरी पराजय' का उत्तर नहीं देकर सिर्फ उल्लिखित नकली फैसले की पुनरावृत्ति की है और साथ में अपने पक्ष की विजय होने के सम्बन्ध में असत्य डींगें मार कर अपने मुँह मियां मिट्ठू बने हैं।❀

जब कि—नकली फैसले का उत्तर पहले पञ्जाब से व बाद में अजमेर से निकल चुका है, और वह उत्तर के लिए ज्यों का त्यों रक्खा हुआ है, जिसका कि वास्तविक उत्तर (जो उनके पास है ही नहीं) अभी तक (सिवाय नकली फैसले की पुनरावृत्ति के) नहीं मिला। ऐसी सूरत में इस विषय में अधिक प्रयास करने की आवश्यकता ही नहीं है। तथापि—भद्रजनों की शङ्काओं का समाधान एवम्—वस्तुस्थिति की सत्यता को विशेष रूप से सिद्ध करने के लिए कुछ नकली फैसले पर विचार कर मुख-वस्त्रिका का मुख पर बाँधना सिद्ध कर दिखाते हैं।

फलौदी वाले फैसले के पृष्ठ ३ पंक्ति १२ में लेखक महाशय बतलाते हैं कि—

" व्यतीत सम्वत्सर के ज्येष्ठ शुक्ल ५ सं० १९६१ को जो

❀ इस विषय का उत्तर एक स्वतंत्र ट्रेक्ट (जय पराजय विषय) से देने का विचार है।

शास्त्रार्थ मध्य में छोड़ा गया था, जिसका यह आशय था कि—ढूंढियों की ओर से सदा मुख-बन्धन की विधि का कोई प्रमाण मिले, सो आज दिन तक कोई उत्तर इनकी तरफ से प्रगट नहीं हुआ, अतः उनकी मूकता आपके शास्त्रार्थ के विजय की सूचिता है।" आदि २

मार पीट कर खड़े किये गये इस फैसले में हमारे बन्धु दो बातें बतलाते हैं। जैसे:—

(१) शास्त्रार्थ मध्य में छोड़ा गया।

(२) कारण—मुखवस्त्रिका सदा मुख पर बांधने के विषय में साधु मार्गियों से उत्तर लेना।

केवल ये दो बातें ही यहां संक्षेप में विचारी जाती हैं।

जब कि स्वयम् यह नकली फैसला ही बता रहा है कि—

"तिस पीछे कई दिन तक हमारे सामने आपका और उदयचन्दजी का शास्त्रार्थ होता रहा।"

आश्चर्य इस बात का होता है कि—एक तरफ तो लिखते हैं कि शास्त्रार्थ कई दिन तक होता रहा, और दूसरी तरफ लिखते हैं कि—"उनकी तरफ से कोई प्रमाण नहीं मिला" तो क्या, इतने दिन तक केवल वल्लभविजयजी अकेले ही अपने आप शास्त्रार्थ करते रहे ?

यदि एक पक्ष के विरुद्ध दूसरा पक्ष कुछ भी प्रमाण नहीं दे,

तो वह उसी समय पराजित हो सकता है, फिर इतने दिन लम्बाने की आवश्यकता ही क्या हो सकती है ?

और शास्त्रार्थ में विजय भी किस प्रकार हुई बतलाते हैं, वह भी देखिए—

" अतः उनकी मूकता आपके शास्त्रार्थ के विजय की सूचिता है। "

ठीक है, क्यों न हो ? फैसले का जालीपन तो स्पष्ट है ? जब कि—बहुत दिनों तक शास्त्रार्थ होना स्वीकार करने के साथ फिर एक पक्ष की मूकता कह देना सत्य से दूर नहीं तो और क्या है ? और बिना किसी प्रमाण के केवल एक पक्ष की मूकता ही से दूसरा विजयी हो गया तो, फिर इतने दिन तक शास्त्रार्थ चला कैसे ? और फैसला दिया किस आधार पर ?

हम दावे के साथ कहते हैं कि—मुख-वस्त्रिका का मुख पर बांधना शास्त्र विहित है, और हाथ में रखने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। इसको सिद्ध करने के पूर्व हम इस कल्पित फैसले का जालीपन सिद्ध करने के लिए एक और प्रमाण इसी फलौदी से प्रकाशित हुए फैसले का देते हैं। इसमें यह बतलाया गया है कि—जब यह फैसला वल्लभविजयजी के पास पहुँचा, तब उसके उत्तर में वल्लभविजयजी ने एक पत्र नाभा नरेश को लिखा, उसमें वे लिखते हैं, कि—

" कितने ही समय से बहुत लोगों के उदास हुए दिल को आपने खुश कर दिया, इस बारे में आपको बार बार धन्यवाद है।" (पृ० ४ पं० १५)

वल्लभविजयजी के ये शब्द ही सिद्ध कर रहे हैं कि— शास्त्रार्थ के समय गणिराज की विजय और इनकी पराजय हुई थी। इसीसे इतने दिन तक ये और इनके भक्त उदास थे। इतने दिनों (डेढ़ वर्ष) के बाद जब यह नकली फैसला भक्तों की चतुराई से इन्हें प्राप्त हुआ, तब इनकी आत्मा प्रसन्न हो गई।

महानुभावो! अगर वास्तव में वल्लभविजयजी विजयी थे, इनकी जीत ही हुई थी, तो इन्हें उदास होने का क्या कारण था? कहीं विजेता भी उदास होता है? क्या कभी किसी भाई ने किसी विजयी को उदास होते देखा, या सुना है? नहीं। वास्तव में तो जो हारता है वही उदास होता है, और उसी की प्रसन्नता पलायन कर जाती है।

श्री वल्लभविजयजी के इस पत्र से अनायास ही यह सिद्ध हो जाता है कि—शास्त्रार्थ के समय अवश्य इनकी हार हुई थी, जिससे इन पर उदासी छा गई थी और अब डेढ़ वर्ष के बाद इस जाली फैसले के प्राप्त होते ही, वह पलायन की हुई प्रसन्नता पुनः प्राप्त हुई।

पुनः देखिए—जब शास्त्रार्थ मध्य में ही छोड़ा गया था तो—

उस समय फैसला देने की आवश्यकता क्या थी? यद्यपि मूर्तिपूजक लोग उस समय फैसला देना और स्थानक-वासियों का जीतना स्वीकार नहीं करते हैं, तथापि इनकी यह हठधर्मी अब चल नहीं सकती, क्योंकि—उस समय के इनके समाचार पत्र ही इस बात को स्वीकार कर रहे हैं। अधिक नहीं केवल एक ही प्रमाण देखिए—

जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर (जो० मू० पू० की खास संस्था है) से प्रकाशित " जैन धर्म प्रकाश " मासिक पुस्तक २१ फागण सम्वत् १९६२ अंक १२ में—" नाभा स्टेटे बाहर पाडेलो फैसलो " शीर्षक से लिखा है कि—

" सं० १९६१ ना जेठ मासमां पञ्जाब तावे नाभा स्टेटना राजा साहेबे " "जे काम चलाऊ फैसलो आप्यो हतो" ते बाबतनो आखरी फैसलो हालमां तेओ साहेबे मुनिराज श्री वल्लभविजयजी उपर लखी मोकल्यो छे. "

इस (वल्लभविजयजी की सम्प्रदाय के) समाचार पत्र के प्रमाण से यह सिद्ध होने में कोई कसर नहीं है, कि—उस समय फैसला हो चुका था। और वह गणिराज की जय सूचक ही था। जभी तो उसे काम चलाऊ कहा जा रहा है। अतः तत्कालीन दिया हुवा फैसला जो गणिराज के पास है, वह सत्य है और यह नूतन फैसला जाली है। यह स्पष्ट सिद्ध है, इसमें कोई शंका नहीं। इसके सिवाय इन लोगों के पत्रकारों ने नाभा

नरेश को भी इस विषय में अपू शब्दों द्वारा संमानित किया था। यह प्रकट में इनकी पराजय सिद्ध करता है और यह ठीक भी है। क्योंकि—जो व्यक्ति किसी मामले में न्यायालय से विजय प्राप्त करता है वह उस न्यायाधीश की प्रशंसा करता है, और हारने वाला करता है निन्दा। पर इसके विरुद्ध विजय पाने वाले को निन्दा करते, व पराजित व्यक्ति को प्रशंसा करते तो आज तक नहीं देखा। फिर यह अनोखी बात कैसी, जो उस समय की, इनकी पत्रिकाओं से प्रमाणित होती है। अतः इनके कहे जाने वाले असली (वास्तव में नकली) फैसले की कल्पितता में कोई सन्देह नहीं है। जिस भाई को इस विषय में अधिक जानना है उन्हें चाहिए कि—पोष्ट खर्च के तीन पैसे के स्टॉम्प भेजकर "पीताम्बरी पराजय" नामक ट्रेकट श्रीयुत् कल्याणमलजी वैद, नया बाजार, अजमेर से मँगवा ले।❀

हमारे मूर्तिपूजक भाई कहते हैं कि—शिवपुराण के आधार पर यह फैसला हुवा है, और उसमें मुख-वस्त्रिका मुँह पर बांधना नहीं लिखा है। इस पर से शिवपुराण के प्रमाण को भी देखकर निर्णय करना आवश्यक है—देखें शिवपुराण इस विषय में क्या कहता है ?

❀ और इस बात का यथा तथ्य जानना हो तो दिल्ली से प्रकाशित 'नाभा शास्त्रार्थ' पढ़े।

हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः ।
मलिनान्येत्र वासांसि, धारयन्तोऽल्पभाषिणः

शिवपुराण ज्ञानसंहिता अ. २१ श्लो. २५

*इस श्लोक में बताया गया है कि—हाथ में पात्र धारण किये हुए, और मुँह पर वस्त्र धारण करने वाले, मलिन वस्त्रों को धारण किये हुए, थोड़े बोलने वाले जैन साधु होते हैं।

इस श्लोक के दूसरे चरण में " तुंडे वस्त्रस्य धारकाः " यह शब्द ही बता रहा है कि—मुँह पर वस्त्र धारण करने वाले ही जैन साधु होते हैं, हाथ में रखने वाले नहीं। ऐसे स्पष्ट प्रमाण के होते हुए भी, क्या, मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधने वाले कभी हार सकते हैं? कदापि नहीं। यहां स्पष्ट सिद्ध हो गया कि—नाभा में गणिराज को ही शानदार जीत हुई थी। और अपने प्रतिद्वंदी की इस जीत को सहन नहीं कर सकने एवम् अपनी हार को छुपाने के लिए ही इस नूतन फैसले की सृष्टि हमारे मूर्तिपूजक बन्धुओं को करनी पड़ी थी।

(२)

मुँहपत्ति रखने के कारण—

प्रथम प्रकरण में हम यह दिखा चुके हैं कि—मुख-वस्त्रिका

---

* यह श्लोक-श्री विद्याविजयजी द्वारा लिखित "श्वेताम्बर प्राचीन के दिगम्बर?" नामक पुस्तक के पृष्ठ १६ पंक्ति ८ में भी छपा है।

विपयक नाभा शास्त्रार्थ में मुख-वस्त्रिका मुँह पर बांधने वाले गणि-वर्य (साधुमार्गीय समाज) की विजय और हाथ में रखने वाले (मूर्तिपूजक समाज) वल्लभविजयजी की पराजय हुई है। अब इस प्रकरण में हम मुख-वस्त्रिका के मुँह पर बांधने के मुख्य कारण बताकर उनको सप्रमाण सिद्ध करते हैं।

मुखवस्त्रिका के मुख पर बांधने में मुख्यतः दो कारण हैं—

(१) वायुकायादि जीवों की रक्षा।

(२) जैन साधुत्त्वदर्शक " लिंग " (चिन्ह)।

इन दो कारणों की सिद्धि के लिए हम मूर्तिपूजक समाज के मान्य ग्रन्थों और लेखों के ही प्रमाण देते हैं। पाठक वर्ग धैर्य पूर्वक पढ़ कर निर्णय करें।

(क)

वायुकायादि जीवों के रक्षणार्थ मुख-वस्त्रिका की आवश्यकता—

कितने ही हाथ में मुख-वस्त्रिका रखने वाले हमारे बन्धु अब तक यह कहते आ रहे हैं कि—मुख की वायु से वायुकायिक जीवों की हिंसा नहीं होती, पर उनका यह कथन निम्न प्रमाणों से बाधित सिद्ध होता है, देखिये—

(१) हेमचन्द्राचार्य कृत योगशास्त्र के भाषान्तर में लिखा है कि— " मुँहपत्ति पण उडीने मुखमां पडतां जीवो तथा—मुखना

उष्ण श्वासथी बाहरना वायुकाय जीवोनी विराधना टालवा माटे छे, तेम मुखमां पडती धूलने पण अटकाववा माटे छे "

(भीमसिंह माणेक द्वारा प्रकाशित और निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित वि० सं० १९५५ पृष्ठ २६० पं० २७)

(२) जैन प्रवचन साप्ताहिक के प्रवचनकार श्री राम विजयजी योग शास्त्र की बारह भावनाओं में से तीसरी संसार भावना के विवरण में वायुकाय की वेदना में लिखते हैं कि—

" मुखादिवातैर्बाध्यन्ते "

(अर्थ) मुख आदिना पवनथी पण वायना जीवो बाधा पामे छे.

(जैन प्रवचन वर्ष ४ अङ्क ३५ पृष्ठ ४०७ कोलम २)

(३) सागरानन्द सूरिजी " दीक्षानुं सुन्दर स्वरूप " में लिखते हैं कि—

" वचननी प्रवृत्ति मां थती हिंसाने निवारवा मुंहपत्ति नी जरूर छे. " (पृष्ठ ३१ पं० ७)

(४) पुनः सागरानन्द सूरिजी—मूर्तिपूजक प्रतिकार समिति द्वारा-अहमदाबाद से प्रकाशित " जैन सत्य प्रकाश " मासिक पत्रिका में " दिगम्बरों नी उत्पत्ति " नामक लेख-माला में प्रथम वर्ष के अङ्क ७ पृष्ठ २०१ के दूसरे कालम में लिखते हैं कि—

मुख-वस्त्रिकाना अभावे भाषानी सावद्यता—

"वली जेओ मुख-वस्त्रिका जेवी आवश्यक उपधी भाष समितिना वखते उपयोगी चीज माननारा नथी, तेओ वाउकाय रूपि एकेन्द्रियनुं रक्षण तेमज डांस मच्छर विगेरे उड़ता जीवे रूपि त्रसकायनुं रक्षण केवी रीते करी शके ?

मुख-वस्त्रिका विना बोलवाथी-वायु विराधना केम ?

"एम नहिं कहेवुं के भाषा वर्गणाना पुद्गलो चउफरसं होवाथी आठ स्पर्श वाला वाउकाय विगेरेनी विराधना केम करी शके ? केमके शब्द वर्गणाना पुद्गलो जे भाषा पणे परिणमे छे ते जेओ के चउस्पर्शी छे तो पण तेवी रीते परिणमवुं नाभीथी उठीने कोष्टमां हणाइने वर्णस्थानोमां फरशीने नीकलता पवन द्वाराए ज बने छे, अने ए वात बोलती वखत मोंढा आगल राखेला हाथ के वस्त्रना स्पर्श के चलनादिथी अनुभव सिद्ध छे, तो तेवी रीते भाषानी वखते नीकलतो वायु बाहर रहेला "सचित वाउ-कायनी विराधना करे तेमां शंकाने स्थान होइ शके नहीं" ए वात पण शास्त्र सिद्ध छे के शरीरमां रहेलो वायु बाहरना वायुने शस्त्र रूप छे, शास्त्रने मुख्यताए नहीं मानता शोधकपणानीज दृष्टिने

---

१ इसी प्रकार लावण्य सूरिजी भी 'समीक्षा भ्रमाविष्करण' लेख (वर्ष ३ अङ्क १) में लिखते हैं ।

मुख्यताए मानवावाळा लोको पण शरीरथी नीकलता वायु ने झेरी हवा तरीके ज ओलखावे छे, जो की मुख आगल वस्त्र राखवाथी भाषानी साथे नीकलतो वायु शरीरमां पाछो प्रवेश करतो नथी, पण मुखमांथी नीकलता वायुना वेगने जरूर तोड़ी नाखे छे, अने ते वेग रहित थयेलो वायु बाहरना वायुने आघात करनार न थाय, के ओछो थाय, ते स्वभाव सिद्ध ज छे, अने तेथीज शास्त्रकारोए पण साधुओने फूंक देवानी मनाई करी.

निरवद्य भाषानी प्रतिज्ञा वाला छतां–जो मुहपत्तिने न माने तो मिथ्यात्वी बने—

"आ उपरथी समजाशे के मुंहपत्तिने राख्या सिवाय बोलनारा भाषानुं निरवद्यपणुं राखनारा कहेवायज नहिं, तो पछी जेओ निरवद्य भाषाने माटे सूत्र सिद्ध वस्त्रनी जरुर छतां ते वस्त्रनीज जरुरीयात न माने तेओ पोताना आत्माने भाषा समितिथी चूकवे छे, एटलुंज नहिं पण सम्यक् श्रद्धान रूपी सम्यक्त्वथी पण चूकवे छे, अर्थात उघाड़े मुखे बोलवा वाळो भाषासमितिथी चूकेलो अने असंजममां पेठेलो गणाय।"

(५) पुनः सागरानन्द सूरिजी इसी पत्रिका के ९ वें अङ्क पृष्ट २८१ प्रथम कॉलम पंक्ति २० में लिखते हैं, कि—

" मोंढामांथी निकलेला पवनथी बहारना वायु कायनो नाश थाय. "

इसी प्रकार इसी पृष्ठ के दूसरे कॉलम पंक्ति ७ से अपकाय की हिंसा भी बतलाते हैं, देखिये—

मुंहपत्ति न राखवाथी अपकायनो नाश—

" वली लग लगाट वरसाद ज्यारे आवेछे त्यारे त्रण दिवसनी हेली पछीज बधां स्थान जलना जीवोथी वासित थई जाय, अने तेवी वखते मुंहपति नहीं होवाथी उघाड़े मुखे बोलनारा मनुष्यो पोताने अहिंसक कहेवड़ावे तो पण असंख्यात अप्-कायना जीवोनो घात करनार ज थाय छे. "

(६) 'जैनीझम' नामक ग्रंथ जर्मन विद्वान हेल्मुट ग्लाजेनाप द्वारा लिखित के भाषान्तर (जैन धर्म) में पृष्ठ ३४६ पंक्ति २ से लिखा है कि—

" वायुना जंतुनी हिंसा थाय नहिं, एटला माटे मोढे बांधवानी मुख पट्टी "

(जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से प्रकाशित)

उक्त प्रमाणों पर से यह अच्छी तरह सिद्ध होगया कि—मुँह की वायु से बाहर के सचित्त वायुकाय के जीवों की विराधना होती है।

अतः प्रथम कारण सिद्ध हो चुका, जो भाई (खास कर श्री ज्ञान सुन्दरजी) मुँह की वायु से वायुकाय की हिंसा नहीं मान कर उल्टी कुतर्क करते हैं, उन्हें इन प्रमाणों पर शांत चित्त से विचार करना चाहिये।

(ख)

मुख-वस्त्रिका जैन साधुओं का लिंग (चिन्ह) है

गत प्रकरण में हम वायुकाय की हिंसा मुख की वायु द्वारा होती है, यह सिद्ध कर आये हैं। अब इस प्रकरण में—मुख-वस्त्रिका बाँधने के दूसरे कारण पर विचार करते हैं।

संसार में जितने मत मतान्तर हैं, उनके साधुओं-प्रवर्तकों के खास कोई न कोई चिन्ह हुवा ही करता है, और ऐसे चिन्हों से वे संसार के अन्य मतों से अपनी भिन्नता जाहिर कर सकते हैं। कोई पीत वस्त्र धारन करता है तो कोई रक्त—एवम् भगवां। कोई लम्बा तिलक करता है तो कोई आडा। कोई त्रिशूल रखता है तो कोई मयूर पंख। मतलब यह कि हर एक धर्म के प्रवर्तकों का कोई न कोई स्वतंत्र लिंग दर्शक चिन्ह होता ही है। इसी प्रकार जैन साधुत्व का परिचय देने वाला मुख्य लिंग, मुख-वस्त्रिका है। अन्य धर्मावलम्बियों के चिन्ह सिवाय परिचय देने के किसी अन्य काम में प्रायः नहीं आते हैं, पर जैन शासन में साधुओं का यह चिन्ह (मुख-वस्त्रिका) जीव रक्षा के उपयोग में भी आता है। और जैन लिंग का भी परिचय देता है। इसके लिए यहां किंचिन् प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) सावचूरि यति दिन चर्याः—

इसी प्रकार इसी पृष्ठ के दूसरे कॉलम पंक्ति ७ से अपकाय की हिंसा भी वतलाते हैं, देखिये—

मुंहपत्ति न राखवाथी अपकायनो नाश—

" वली लग लगाट वरसाद ज्यारे आवेछे त्यारे त्रण दिवसनी हेली पछीज वधां स्थान जलना जीवोथी वासित थई जाय, अने तेवी वखते मुंहपति नहीं होवाथी उघाड़े मुखे वोलनारा मनुष्यो पोताने अहिंसक कहेवड़ावे तो पण असंख्यात अप्-कायना जीवोनो घात करनार ज थाय छे. "

(६) 'जैनीझम' नामक ग्रंथ जर्मन विद्वान हेलमुट ग्लाजेनाप द्वारा लिखित के भाषान्तर (जैन धर्म) में पृष्ठ ३४६ पंक्ति २ से लिखा है कि—

" वायुना जंतुनी हिंसा थाय नहिं, एटला माटे मोढे वांधवानी मुख पट्टी "

(जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से प्रकाशित)

उक्त प्रमाणों पर से यह अच्छी तरह सिद्ध होगया कि—मुँह की वायु से वाहर के सचित्त वायुकाय के जीवों की विराधना होती है।

अतः प्रथम कारण सिद्ध हो चुका, जो भाई (खास कर श्री ज्ञान सुन्दरजी) मुँह की वायु से वायुकाय की हिंसा नहीं मान कर उल्टी कुतर्क करते हैं, उन्हें इन प्रमाणों पर शांत चित्त से विचार करना चाहिये ।

(ख)

मुख-वस्त्रिका जैन साधुओं का लिंग (चिन्ह) है

गत प्रकरण में हम वायुकाय की हिंसा मुख की वायु द्वारा होती है, यह सिद्ध कर आये हैं। अब इस प्रकरण में—मुख-वस्त्रिका बाँधने के दूसरे कारण पर विचार करते हैं।

संसार में जितने मत मतान्तर हैं, उनके साधुओं-प्रवर्तकों के खास कोई न कोई चिन्ह हुवा ही करता है, और ऐसे चिन्हों से वे संसार के अन्य मतों से अपनी भिन्नता जाहिर कर सकते हैं। कोई पीत वस्त्र धारन करता है तो कोई रक्त—एवम् भगवां। कोई लम्बा तिलक करता है तो कोई आडा। कोई त्रिशूल रखता है तो कोई मयूर पंख। मतलब यह कि हर एक धर्म के प्रवर्तकों का कोई न कोई स्वतंत्र लिंग दर्शक चिन्ह होता ही है। इसी प्रकार जैन साधुत्त्व का परिचय देने वाला मुख्य लिंग, मुख-वस्त्रिका है। अन्य धर्मावलम्बियों के चिन्ह सिवाय परिचय देने के किसी अन्य काम में प्रायः नहीं आते हैं, पर जैन शासन में साधुओं का यह चिन्ह (मुख-वस्त्रिका) जीव रक्षा के उपयोग में भी आता है। और जैन लिंग का भी परिचय देता है। इसके लिए यहां किंचित् प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) सावचूरि यति दिन चर्या:—

वत्तीसंगुलदीहं रयहरणं, पुत्तियाय अद्धेणं ।
जीवाण रक्खणट्ठा "लिंगट्ठा" चेव एयंतु ॥

तथैवेदं–रजो हरणं मुख-वस्त्रिका रूपं जीवानां रक्षणार्थं "लिङ्गार्थं" मपि ।

अर्थात्–३२ अङ्गुल लम्बा रजोहरण और उससे अर्द्ध (सोलह अङ्गुल) मुख-वस्त्रिका ये जीवों की रक्षा के लिये और "लिंग" के लिए भी रक्खे जाते हैं ।

(२) साधु समाचारी और आवश्यक बृहद् वृत्ति आदि में मृतक साधु के मुख-वस्त्रिका मुंह पर बाँधने की विधि बताई है (जिसका उद्धरण आगे दिया जायगा) उसका तात्पर्य भी प्रकरण सम्मत है ।

इससे सिद्ध होता है कि मुख-वस्त्रिका जैन लिंग की द्योतक है। और यह अपना कार्य सुचारु रूप से तभी कर सकेगी जब कि यह मुँह पर बँधी होगी। क्योंकि हाथ में तो गृहस्थ लोग भी रुमाल आदि रखते ही हैं, इस लिए हाथ में रहने वाला वस्त्र मुख-वस्त्रिका के समान उपयोगी नहीं होता ।

एक कमरे में यदि संसार के भिन्न २ सम्प्रदाय के पांच-पांच साधु एकत्रित किये जायँ, जिसमें पांच साधु हाथ में वस्त्र रखने वाले भी हों, और उस एकत्रित हुए साधु मण्डल में एक साधु मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधने वाला (साधुमार्गी जैन) हो, वहाँ

किसी अन्य सामाजिक मनुष्य को लाकर उस मंडली के सामने खड़ा कर पूछा जावे कि वताओ इनमें जैन साधु कौन है? तो वह व्यक्ति जल्दी से मुख-वस्त्रिका वाले जैन मुनि की ओर ही अंगूली निर्देश करेगा, क्योंकि—उनकी परिचय दात्री—मुख-वस्त्रिका जीव रक्षा के साथ २ जैन साधुत्त्व को स्पष्ट वता रही है। इसी से वह व्यक्ति शीघ्र जान लेता है कि यही जैन साधु है। ऐसे प्रश्न के उत्तर में तो हाथ में वस्त्र रखने वालों को देख लेने पर भी उनके जैन साधु होने का सहज में कोई भी अनुमान नहीं कर सकता।

इससे यह सिद्ध है कि मुख-वस्त्रिका जैन साधु का खास लिंग है, और वह मुँह पर रहने पर ही कार्यसाधक हो सकती है। मुँह के सिवाय इतर स्थानों पर उसका उपयोग करना दुरुपयोग ही है।

यहाँ हमने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दोनों कारणों को सिद्ध कर दिखाये हैं। अब हमारे प्रेमी पाठक अगले प्रकरण में मुख-वस्त्रिका को मुँह पर वाँधने के सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाणों का अवलोकन करें।

(३)

सप्रमाण सिद्धि—

गत प्रकरणों में मुख से निकलती हुई वायु से होने वाली वायुकायादि जीवों की हिंसा को रोकने में और जैन साधुपन का

परिचय कराने में उपयोगी मुख-वस्त्रिका के सम्बन्ध में विचार किया गया। अब हम पाठकों के सन्मुख मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधने के विषय में कुछ प्रमाण पेश करने के पहले, मुख-वस्त्रिका शब्द पर थोड़ासा विचार करके उसका अर्थ बतलाने का प्रयत्न करते हैं।

'मुख-वस्त्रिका' यह शब्द ही ऐसा है जो अपना अर्थ स्वयम् प्रकाशित कर रहा है। जैसे "शब्द सिद्धि—मुखेस्थिता—मुखस्थिता, मुखस्थिता चासौवस्त्रिका मुख-वस्त्रिका" इति शब्दानु शासनम्—अर्थात् जो वस्त्रिका मुँह पर स्थित—बाँधी हुई हो उसी को मुख-वस्त्रिका कहते हैं। शाब्दिक अर्थ को देखते हुए तो अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती, फिर भी अपनी पूर्व की प्रतिज्ञा का पालन करने और भद्र जनों की शंकाओं का निराकरण करने के लिए, इस विषय में हमारे मूर्तिपूजक बन्धुओं के मान्य ग्रन्थों के ही प्रमाण दिये जाते हैं।

(१) 'विशेषावश्यक भाषान्तर भाग २' आगमोदय समिति से सम्वत् १९८३ में प्रकाशित—की प्रथमावृत्ति पृ० ३०५ पंक्ति १६ में भाष्य की २५७७ वीं गाथा के तीसरे चरण में "गुह पुत्तियाइ" शब्द आया है उसका अर्थ भाषान्तरकार पृ० ३०६ पंक्ति ११ में करते हैं कि—

"मुखे बाँधवाने मुख-वस्त्रिका राखवी"

(२) मूर्तिपूजक विद्वान कवि ऋषभदासजी ने "हितशिक्षानो रास" द्वितीयावृत्ति पृष्ठ ३८ पंक्ति १३ में लिखा है कि—

"मुखे बांधि ते मुख पति"

इन दो प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका कि—मुख-वस्त्रिका वही है जो मुँह पर वाँधी जाय।

जव कि—मुख-वस्त्रिका शब्द का अर्थ मुँह पर वाँधने का वस्त्र विशेष सिद्ध हो गया, तब इस विषय में कुछ भी शंका नहीं रहने पाती। अतएव आचाराङ्गादि अङ्गोपाङ्ग सूत्रों में अनेक स्थानों पर आये हुए मुख-वस्त्रिका शब्द का अर्थ भी उक्त प्रमाणों से मुँह पर वाँधने का वस्त्र सिद्ध हो चुका है। मुख-वस्त्रिका का मुँह पर वाँधना सूत्र सम्मत होते हुए भी अब हम अपने प्रकरण की विशेष सिद्धि के लिए कुछ प्रमाण मूर्तिपूजकों (हाथ में वस्त्र रखने वालों) के मान्य ग्रन्थों के देते हैं।

(१) कण्णेठ्ठियाए वा मुहणंतगेणं वा विणा—इरियं पडिक्कमे, मिच्छुक्कडं पुरिमड्ढं।

(महानिशीथ सूत्र अ० ७)

अर्थात्—कान में डाली हुई मुख-वस्त्रिका के विना या सर्वथा मुख-वस्त्रिका के विना इरियावही क्रिया करने पर साधु को मिथ्या दुष्कृत या पुरिमार्द्ध प्रायश्चित आता है।

(२) देवसूरिजी समाचारी ग्रन्थ में लिखते हैं कि—

"मुख-वस्त्रिकां प्रतिलेख्य मुखेवध्वा"

अर्थात्—"मुख-वस्त्रिका की प्रतिलेखना कर मुँह पर बाँध कर'

(३) भुवनभानु केवली के रास में रोहिणी के अधिका
वाली ६६ वीं ढ़ाल में—

"मुहपतिए मुखवांधीनेरे," तुमे वेसो छो जेस,

तिम मुखे डुंचो देइनेरे, वीजे वेसाए केम ॥३।

अर्थात्—रोहिणी कहती है कि—हे गुरुणिजी! जिस प्रकार मुख-वस्त्रिका मुख पर बाँधकर तुम बैठती हो, उस प्रकार मुख पर डुंचा देकर दूसरे से कैसे बैठा जाय?

(४) हरीवल मच्छी रास के—खण्ड २ ढाल ६ में—

साधुजन मुख मुँहपत्ति, वाँधी है जिन धर्म।

(५) विचार रत्नाकर में—

कण्ठे सार सरस्वती, हृदि कृपा नीति क्षमाशुद्धयो।

"वक्त्राब्जे मुख-वस्त्रिका" सुभगता, काये करे पुस्तिका॥

अर्थात्—(गुरु के वर्णन में) उनके कंठ में सरस्वती विराजमान है, हृदय में दया, नीति, क्षमा और पवित्रता है "मुख पर मुख-वस्त्रिका है," शरीर में सुभगता और हाथ में पुस्तक है।

(६) हित शिक्षानो रास पृ० २०७ पंक्ति ९ (श्रावकाधिकार)

रजोहरणां "उज्झल मुंहपति अलगी न करे ते मुंह पति"

यहाँ मुख-वस्त्रिका को मुँह से दूर नहीं करे ऐसा कहा है।

(७) सम्यक्त्व मूल वारह व्रतनी टीप पृष्ठ १२१ पंक्ति १६—

'जयणायुक्त थई "मुहपत्ति मुखे वाँधीने" पुस्तक उपर दृष्टि राखीने भणे तथा साँभले' ऐसा सामायिक व्रत के अधिकार में लिखा है।

(८) 'जैनीझम' जिसके लेखक जर्मन विद्वान प्रो० हेल्मुट ग्लाजेनाप हैं, उसका भाषान्तर गुजराती में नरसिंहभाई ईश्वरभाई पटेल ने किया है, और भावनगर की जैन धर्म प्रसारक सभा से प्रकाशित हुवा है, उस (जैन धर्म नाम की पुस्तक) के पृष्ठ ३९१ पंक्ति २८ पर लिखा है कि—

त्यारे एमनी साथेना साधुए तुरतज म्हों उपर मुखपट्टी वाँधी। श्वास वड़े कोई जीवनी हिंसा थाय नहिं एटला माटे जैन साधुओए वाँधवानी होय छे।

(९) मूर्तिपूजक विजयानन्दसूरि (आत्मारामजी) ने अपने ही किसी मू० पू० साधु को—इन्हीं नाभा शास्त्रार्थ में पराजित वल्लभविजयजी के हाथ से एक पत्र लिखवाया है, जिसका फोटो "मुंहपत्ति चर्चासार" नामक पुस्तक जो पंन्यास रत्नविजयजी गणि लिखित है, और विजय नीतिसूरि जैन लाईब्रेरी, अहमदावाद से सम्वत् १९९० में (प्रथमावृत्ति) प्रकाशित हुई है, उसके पृष्ठ ८४ के आगे दिया गया है, और उसकी नकल भावनगर के मूर्ति-पूजक पत्र "जैन" साप्ताहिक के पुस्तक ३२ अंक ३६

तारीख २२-९-१९३५ मिती भादवा (मारवाड़ी आश्विन) वदी १
रविवार विक्रम सम्वत १९९१ पृष्ट ८९७ में छपी है, और इसक
छपवाने वाले भी मू० पू० मुनि विजय हर्षसूरिजी है। उसकी
फोटू से ली हुई यथा तथ्य नकल दी जाती है:—

श्री

मुकाम सुरत बन्दर

मुनि श्री आलमचन्दजी योग्य लि० आचार्य महाराज श्री श्री श्री १००८ श्री मद्विजयानन्द सूरीश्वरजी (आत्मारामजी) महाराज जी आदि साधु मण्डल ठाने ७ के तर्फ से वंदणाऽनुवंदणा १००८ वार वाँचना चिट्ठी तुमारी आइ समंचार सर्व जाणे हैं यहाँ सर्व साधु सुखसातामें हैं तुमारी सुखसाता का समंचार लिखना—

मुहपत्ति विशे हमारा कहना इतनाहि है कि मुहपत्ति वंधनी अच्छी है और घणे दिनों से परम्परा चली आइ है इनको लोपना यह अच्छा नहीं है हम वन्धनी अच्छी जाणते हैं परन्तु हम ढुंढीए लोक में से मुहपत्ति तोड़ के नीकले हैं इस वास्ते हम वन्ध नहीं सक्ते हैं और जो कदी वन्धनी इच्छीए तो यहां वड़ी निन्दा होती है और सत्य धर्म में आये हुए लोकों के मन में हीलचली हो जावे इस वास्ते नहीं वन्ध सक्ते हैं सो जाणना अपरंच हमारी सलाह मानते हो तो तुमको मुहपत्ति वंधने में कुछ भी हानी नहीं है क्यों की तुमारे गुरु वन्धते है और तुम नहीं वन्धो यह अच्छी

बात नहीं है आगे जैसी तुमारी मरजी हमने तो हमारा अभिप्राय लिख दिया है सो जाणना—और हमको तो तुम बाँधोगे तो भी वैसे हो और नहीं बाँधे तो भी वैसे ही हो परं तुमारे हित के वास्ते लिखा है आगे जैसी तुमारी मरजी—

१९४७ कत्तक वदि ०)) वार बुध दसखत—वल्लभविजय की वन्दणा वाचनी दीवाली के रोज दस बजे चिट्ठी लिखी है।

[उपरोक्त पत्र में कई जगह शाब्दिक अशुद्धियां हैं, पर चिट्ठी की यथा तथ्य नकल देने के कारण हमने उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया है।]

(१०) साधुओं के प्राचीन चित्र जो 'मुहपत्ति चर्चासार' में दिये हैं उनमें भी साधुओं के मुँह पर मुखवस्त्रिका बन्धी हुई है। और प्राचीन कल्प सूत्र बारसा में भी इसी प्रकार के मुखवस्त्रिका मुख पर बांधे हुए चित्र हैं।

इतने पुष्ट और सबल प्रमाणों के होते हुए भी हमारे मू० पू० बन्धु सत्य एवम् न्याय मार्ग के अनुकरण करने वालों पर अनुचित हमले करते हैं यह सरासर अन्याय है।

मुखवस्त्रिका मुख पर बांधने के सम्बन्ध में मू० पू० आचार्य केवल इतना कह कर ही नहीं रुके हैं, किन्तु इससे भी आगे मृतक साधु (शव) के मुँह पर भी मुख-वस्त्रिका बाँधने का विधान बताते हैं, इस सम्बन्ध में भी बहुत से प्रमाणों में से केवल

दो ही प्रमाण दिये जाते हैं। यथा:—

(१) मयग कलेवरं ण्हविता कुंकुमाइहिं विलिपित्ता अवंगं चोलपट्टं परिहाविय, "पुत्ति मुखे बंधीय" बीयं वत्थं हिट्ठा पत्थरिय, तइएणं उवरिं पाउणिय संथारे कडिए दोरी बज्झइ।

(साधु-समाचारी

अर्थात्—मृतक शव को स्नान कराकर कुंकुम आदि से विलेपन करे और उल्टा चोल पट्टा पहिना के, "मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधके" दूसरा वस्त्र नीचे बिछाकर और तीसरा वस्त्र संथारे पर ढांक कर कमर में डोरी बांधे।

(२) तत्थय—जाहे चेव काल गतो ताहे चेव हत्थ पादा उज्जाधारिज्जन्ति। तुंडं चसे "मुँह पोतियाए बज्झई, जाणि संधाणाणि अंगुलि- अंतराणि तच्छइ इसिं फालिज्जाइ, पायंगुट्ठे सुहत्थंगुंट्ठेसु बज्झतीति।

अर्थात्—जिस समय साधु काल करे, उसी समय शीघ्र हाथ पैर सीधे पकड़ रक्खे, और उसका "मुँह मुँहपत्ति से बांधे" जितने अंगुली के बीच के सांधे (जोड़) हैं उनके "चमड़े को चीरे," और पैर व हाथ के अंगुठे को बांधे।

आवश्यक बृहद् वृत्ति (हरिभद्रीय) प्रतिक्रमणाध्ययन

परिष्ठापनिकाधिकार

इस प्रकार मुख-वस्त्रिका का मुंह पर बाँधना अनेक पुष्ट

एवम् प्रबल प्रमाणों से सिद्ध है, यहाँ तक कि मृतक साधु के भी मुख-वस्त्रिका बाँधना प्रमाणित है, जो कि–सिवाय लिंग प्रदर्शन के वह अन्य किसी उपयोग में नहीं आती, तो फिर जीवित साधु अवश्य बाँधे, इसमें तो शंका ही नहीं हो सकती। ❀

यद्यपि मुख-वस्त्रिका के मुँह पर बाँधने के ये प्रमाण इतने प्रबल और अकाट्य हैं, कि जिन्हें देखकर सुज्ञ जनों को किसी भी प्रकार की शंका नहीं रह सकती। तथापि हमारे कितने ही भाई इस विषय की शंकाएं उठाकर भद्र जनता को भ्रम में डालने का प्रयत्न करते हैं। और श्री ज्ञानसुन्दरजी आदि ने किया भी है। अतएव आगे उत्तरार्द्ध में हम उन शङ्काओं का भी पृथक् २ समाधान करेंगे। पाठक धैर्य एवम् शान्ति से पढ़ें।

❀ इन दोनों प्रमाणों का मतलब केवल मुख-वस्त्रिका से है, अन्य बातों से नहीं।

"उत्तरार्द्ध"

शङ्का-समाधान

जब किसी व्यक्ति का उसकी चरित्र-हीनता के कारण समाज से तिरस्कार हो जाता है, तब वह व्यक्ति अपनी चरित्र-हीनता का उत्तरोत्तर पोषण करने के लिए (जो उस समाज में रह कर नहीं हो सकता) और उस समाज से अपने तिरस्कार का बदला लेने के लिए इतर समाज में मिल जाता है, और उसमें रहकर अपना तिरस्कार करने वाली समाज को दिल खोलकर अच्छी तरह कोसता है। यदि उसमें शक्ति हो तो वह उस समाज को ही नष्ट करदे, ऐसी भावना रखता है। पाठक देखेंगे, कि आज एक हिन्दू किसी कारण से अपनी समाज से बहिष्कृत होकर मुस्लिम या ईसाई आदि समाज में जा घुसता है। तब वह हिन्दू समाज का ऐसा कट्टर दुश्मन हो जाता है कि जितने वे असली हिन्दू विरोधी भी नहीं होंगे। इसका मुख्य कारण अपने अपमान का बदला ही है, नतु अन्यः।

ठीक इसी दूषित प्रवृत्ति को श्री ज्ञानसुन्दरजी ने भी पकड़ रक्खी है। आपके आचरणों की ख्याति से ही शुद्ध जैन समाज

से आपको बिदाई मिल गई। पुनः प्रविष्ठ होने की कोशिश करने पर भी कृतज्ञता (!) के वश मूल साधुमार्गी समाज में आप प्रविष्ट नहीं हो सके। विज्ञ समाज में भी आपका आदर न होकर अनादर तथा तिरस्कार ही हुवा। तब आपने येन केन प्रकारेण इस समाज से अपने निरादर एवम् अपमान का बदला लेने की ठान ली। बस जा घुसे मूर्तिपूजक समाज में और वहाँ रह कर अपने ज्ञान एवम् आश्रयदाता को लगे पेट भर कोसने। स्वामीजी ने वहाँ रह कर भी अपना चरित्र किस-प्रकार कलङ्कित किया है, इस विषयक वर्णन एक स्वतंत्र ट्रेक्ट द्वारा किया जा सकता है, परन्तु यहाँ तो केवल इतना ही कहना है कि श्री ज्ञान-सुन्दरजी ने मुख-वस्त्रिका विषयक जो जो कुतर्क उठाई हैं वे सब निरर्थक होकर, इनकी चित्तवृत्ति को स्फुट कर रही हैं। सुन्दरजी ने बाल-ब्रह्मचारी, शास्त्रोद्धारक स्वर्गीय पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज को अपने पोथे में प्रायः प्रत्येक स्थान पर 'अमोलखर्षिजी' लिखकर न जाने किस वैर का बदला चुकाया है। आपने साधु मार्गीय समाज को कितने हल्के शब्दों से सम्बोधन किया है! यह तो पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। इस लिये हम-विषयान्तर नहीं करते ज्ञानसुन्दरजी के मुख-वस्त्रिका विषयक फैलाए हुए भ्रम जाल का ही छेदन करना है। अतएव निम्न लिखित शङ्का समाधान रूप में पाठकों की सेवा में रखते हैं।

पाठक धैर्यपूर्वक अवलोकन एवम् मनन करें।

(१) शंका—मृगावती रानी ने गौतमस्वामी को कहा कि—आप मुख-वस्त्रिका मुख पर बाँधकर ही मेरे पुत्र को देखने चलें, ऐसा विपाक सूत्र के मूल पाठ में कहा है, इससे सिद्ध होता है कि—उस वख्त गौतमस्वामी के मुख पर मुख-वस्त्रिका बन्धी हुई नहीं थी, किन्तु हाथ ही में थी। इस से मुख-वस्त्रिका हाथ में रखना कैसे प्रमाणित नहीं हो सकता ?

समाधान—इस शंका का समाधान, इस विषय के पूर्वा पर सम्बन्ध को देकर किया जाता है।

विपाक सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन में लिखा है कि—

मृगा रानी का मृगा नामक पुत्र जन्मान्ध था, बहरा था, गूंगा था, पंगू था एवं उसके शरीर में कुष्टादि कई प्रकार के रोग थे। शरीर से रक्त, पीप, बहता रहता था और उससे असहनीय दुर्गन्ध निकलती थी। वह खाये हुए आहार को वमन द्वारा बाहर निकाल कर पुनः खा जाता था, ऐसे घृणित कार्य से व खास कर उसकी दुर्गन्ध से बचने के लिए ही उसे भूमि घर में रक्खा था। उसकी माता जब उसके लिये आहार ले जाती थी, उस समय वह दुर्गन्ध से बचने के लिए नाक व मुँह को वस्त्र से बाँध लेती थी और उसे दूर ही से आहार देकर पुनः शीघ्र लौट आती थी।

श्री वीर प्रभु से इस जन्म दुःखी आत्मा का हाल जानकर श्री गौतमस्वामी उसे देखने के लिए मृगावती रानी के समीप आते हैं, और अपनी (देखने की) इच्छा प्रदर्शित करते हैं। तब मृगावती रानी आहार का समय हो जाने से उसके लिए आहार लेकर साथ में श्री गौतमस्वामी को भी ले चलती है। भूमि-गृह के द्वार पर जाकर वह स्वयम् वस्त्र से अपना मुँह बाँध लेती है, तथा श्री गौतमस्वामी से भी कहती है, कि—भगवन्! आप भी मुख-वस्त्रिका से मुँह बाँध लीजिये।

यह प्रकरण का सार है, इसी पर हमारे मू० पू० भाई हाथ में मुख-वस्त्रिका रखना सिद्ध करते हैं। परन्तु जरा सद् बुद्धि से विचार करें तो उन्हें मालूम होगा कि—

उस दुर्गन्धमय स्थान में जाते समय मुँह बाँधने को कहने का मतलब—ऐसा प्रयत्न करने का था कि—जिससे वह दुर्गन्ध शरीर में प्रवेश नहीं कर सके। वैसे तो मुख-वस्त्रिका के रहते हुए भी बाहर की वायु शरीर के अन्दर प्रवेश कर सकती है, और बिना किसी विशेष रुकावट के आती रहती है। पर दुर्गन्ध से बचने के लिये किसी खास प्रयत्न की आवश्यकता रहती है।

यद्यपि श्री गौतमस्वामी के मुँह पर मुख-वस्त्रिका थी, तथापि उस दुर्गन्ध से व दुर्गन्ध के कीटाणुओं के शरीर में प्रवेश करने से रक्षा नहीं हो सकती थी। इसी लिये तो रानी ने वस्त्र से

अपना मुंह बाँध कर श्री गौतमस्वामी से भी ऐसा करने का निवेदन किया था। इसका यही आशय था कि–मुहपत्ति नाक व मुँह से चिपकाकर बाँधी जाय, जिससे बाहर की अशुद्ध वायु आसानी से शरीर में प्रवेश नहीं कर सके।

यदि यहाँ कोई यह तर्क करे–कि मृगा रानी ने जो मुँह बाँधा था, वहाँ तो वस्त्र ही लिखा है, पर गौतमस्वामी के लिए मुख-वस्त्रिका क्यों कही? यहाँ भी दूसरा वस्त्र विशेष ही कहना चाहिए था? तो इसका समाधान यह है कि–जैन-मुनि अपने पास आवश्यक और अनिवार्य वस्तुएं ही रखते हैं। आवश्यकता से अधिक एक चिंधी भी नहीं रखते, यह सर्व साधारण जानते हैं; और रानी भी यह बात जानती थी, कि इनके पास कोई फालतु वस्त्र नहीं है, इसीलिए उसने मुख-वस्त्रिका से ही दुर्गन्ध से बचने के लिए मुँह व नासिका को बाँध लेने के उद्देश से ऐसा कहा।

यहाँ प्रकरण के विरुद्ध होने पर भी प्रसंगोपात एक बात कही जाती है जो खास ध्यान देने योग्य है। वह यह कि आज जिस प्रकार मू० पू० साधु अकारण ही कम्बल को कन्धे पर डाले फिरते देखे जाते हैं, यह पद्धति उस समय नहीं थी। यदि होती तो रानी अवश्य दुर्गन्ध से बचाव करने के लिए उसका उपयोग करने को कहती। क्योंकि कारण तो सिर्फ दुर्गन्ध से रक्षा

करने का ही था, न कि बोलने या धर्मोपदेश देने का इससे यह पाया जाता है कि इनकी यह सदैव कम्बल कन्धे पर डाल कर फिरने की पद्धति नूतन ही है। और यह भी किसी एक के साथ विशेष घटना (चोरी आदि) हो जाने से ही प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है।

अब पुनः मूल प्रकरण पर आते हैं।

इस पर भी यदि कोई शंका करे कि सूत्र में तो मुँह बाँधने का ही कहा है, नासिका का तो कहा ही नहीं, फिर आप नासिका बाँधना कैसे कहते हो ? तो इसके लिए यही समाधान है कि यह प्रकरण ही बिना किसी रुकावट के दुर्गन्ध से रक्षा करने के उद्देश्य को बता रहा है। और दुर्गन्ध से बचने के लिए मुख्यतः नासिका ही को ढकना पड़ता है, तब ही शरीर के अन्दर प्रवेश करने वाली दुर्गन्धमय वायु और उसके कीटाणुओं के रास्ते में रुकावट होती है। और गन्ध जो है वो नासिका ही से आती है, इसके लिये तो दो मत हो ही नहीं सकते क्योंकि यह शास्त्र व अनुभव सिद्ध बात है। पञ्च इन्द्रिय के २३ विषय में नासिका के दो विषय सुगन्ध व दुर्गन्ध हैं। ये विषय मुख के तो हैं ही नहीं। न्याय भी कहता है कि—" घ्राण ग्राह्यो गुणो गन्धः " अर्थात् गन्ध घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण करने लायक गुण है। प्रत्यक्ष में भी इत्र पुष्पादि नासिका ही से सूंघे जाते हैं, सुगन्ध और

दुर्गन्ध की पहिचान भी नासिका ही से होती है। स्वयम् हाथ में वस्त्रिका रखने वाले साधु भी तो सूंघनी नासिका ही से सूंघते हैं। फिर इसमें विचार की बात ही क्या है ?

इसलिये सरल बुद्धि से यह निश्चय समझिये कि—मृगावती रानी के कहने का मुख्य तात्पर्य केवल दुर्गन्ध रक्षार्थ नासिका बाँधने का था। पर व्यवहार में उसे मुँह बाँधना ही कहते हैं देखिये—

(अ) स्वयम् मृगावती रानी के लिए भी वहाँ मुँह बाँधने ही का कहा है। पर वास्तव में उसने नासिका को भी बाँधा है। क्योंकि उसे दुर्गन्ध से रक्षा करनी अभीष्ट थी, न कि धर्म कार्य।

(आ) ज्ञाता धर्म कथाङ्ग सूत्र के ९ वें अध्ययन में लिखा है कि—उन माकंदिय पुत्रों ने असाधारण दुर्गन्ध से व्याकुल हो कर बचाव के हेतु मुँह ढक लिया। यहाँ भी मुँह ढकने ही कहा पर मुख्य सम्बन्ध नासिका से ही है।

(इ) डॉक्टर लोग किसी भयङ्कर रोगी के शस्त्र-क्रिया (ऑपरेशन) करते हैं तब वस्त्र से मुँह व नाक को बाँधते हैं, किन्तु उसे मुँह बाँधना ही कहते हैं।

(ई) खरतर गच्छीय व कुछ और भी साधु व्याख्यान के समय नासिका से लेकर मुँह पर कपड़ा बाँधते हैं, पर उसे मुख-वस्त्रिका ही कहते है। यहाँ नाक को बाँधते हुए भी नाक

नहीं कह कर मुख ही कहना सिद्ध हो गया।

(ड) मूर्ति पूजक गृहस्थ भी पूजा करते समय नाक व मुँह पर ढाटा बाँधते हैं, और उसे "मुखकोश" ही कहते हैं।

इत्यादि पर से स्पष्ट सिद्ध होता है कि—व्यवहार में नाक को बाँधते हुए भी नाक बाँधना नहीं कह कर मुँह बाँधना ही कहते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि—

एक तो 'मुख' प्रधान अंग है। दूसरा नासिका उसी पर (मुँह पर) है। तीसरा नासिका व मुँह के कोई विशेष अन्तर भी नहीं है। इससे नासिका बाँधते समय मुँह भी बाँधा जाता है (पर मुँह बाँधते समय नासिका नहीं बाँधी जाती)। और इसी से सर्व साधारण का यह व्यावहारिक नियम है कि—जहाँ कहीं दुर्गन्ध की ओर से निकलने का काम पड़े तो उस दुर्गन्ध से बचने के लिए नासिका व मुँह दोनों पर कपड़ा लगा लेते हैं। हाँ, अगर नासिका, मुँह पर नहीं होकर किसी अन्य जगह पेट, हाथ या पैर पर होती, और वैसी हालत में मुँह भी बाँधते तब तो यह बात भी विचारणीय होती; पर वैसा तो स्वाभाविक नहीं है।

इस से यह अच्छी तरह प्रमाणित हो गया कि—मृगावती रानी ने जो श्री गौतमस्वामी को मुख-वस्त्रिका से मुँह बाँधने का कहा, वह केवल दुर्गन्ध से बचने के लिए* नासिका ही को,

---

* ज्ञानसुन्दरजी ने भी दुर्गन्ध से बचाव होने का कारण माना है

ओर साथ साथ. अति निकट एवम् प्रधान अंग होने से, तथा कीटाणुओं से रक्षा करने के लिए मुँह बाँधने का कहा, इसका मुख्य कारण ऊपर बताए हुए मुहावरे के व्यावहारिक शब्द ही से कहा है, परन्तु इससे यह नहीं माना जा सकता कि श्री गौतम-स्वामी के मुँह पर मुख-वस्त्रिका नहीं थी। बँधी हुई तो अवश्य थी, क्योंकि वे जैन साधु के लिंग में थे, और जैन साधु के लिंग की सर्व प्रथम स्पष्ट एवम् सरलता पूर्वक परिचय देने वाली मुख-वस्त्रिका ही है। मुख-वस्त्रिका के मुँह पर बँधी रहते हुए भी उससे दुर्गन्ध का प्रवेशद्वार तो स्पष्ट खुला हुआ ही था। इसीलिए उस द्वार (नासिका) को बन्द करने के लिये ही उसने ऐसा कहा था।

इससे एक बात यह भी पाई जाती है कि श्री गौतमस्वामी के मुँह पर जो मुख-वस्त्रिका बँधी हुई थी वह ओष्ट पर ही थी, नकि नासिका पर, और इसीलिए रानी को वैसा कहना पड़ा। अन्यथा क्या आवश्यकता थी? अतएव नाक पर से लेकर बाँधने

और विशेष में यह भी माना है कि "मुँहपत्ती को तिखुनी कर नाक व मुँह को आच्छादित कर लिया," जैसे कि रानी मृगा ने अपना मुँह बाँधा था (पृष्ठ २७२) इससे तो उल्टा यह सिद्ध होता है कि मुख-वस्त्रिका बँधी हुई तो थी, पर रानी की तरह (त्रिकोन कर नाक व मुँह दोनों को) बाँधी हुई नहीं थी। अतः ऐसा करने का रानी ने श्री गौतमस्वामी से निवेदन किया। इस से हाथ में रखना मान लेना अनुचित एवम् श्री गौतमस्वामीजी को कुलिंग युक्त मानना है।

की पद्धति अर्वाचीन ही प्रतीत होती है।

(२)

शंका—आचाराङ्ग सूत्र में कहा है कि—साधु छींक, उबासी, डकार, खाँसी आदि लेते समय मुँह को हाथ से ढक ले, फिर यतना पूर्वक वायु निकाले। यदि मुख-वस्त्रिका मुख पर बाँधना सूत्र सम्मत होता, तो—हाथ से यतना करने का क्यों कहा जाता?

समाधान—आपकी यह शङ्का भी मत-मत्तता ही जाहिर करती है। क्योंकि इस कथन से मुख-वस्त्रिका का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी वह पाठ लिखकर आपकी शङ्का का समाधान किया जाता है। देखिए आचाराङ्ग सूत्र का वह पाठ—

से भिक्खुवा भिक्खुणीवा ऊसासमाणे वा णीसासमाणे वा, कासमाणे वा छीयमाणे वा जंभायमाणे वा उड्डुएण वा वायणिसग्गे वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपिहित्ता तओ संजया मेव ऊससेज्ज वा जाव वायणिसग्गं वा करेज्जा।

आचाराङ्ग सूत्र श्रु० २ शय्याध्ययन उ० ३ सू० ७१०

अर्थ—वह साधु अथवा साध्वी उच्छ्वास अथवा निच्छ्वास लेते हुए, अथवा खांसी, छींक, जंभाई, उबासी, डकार तथा वायूत्सर्ग, इन क्रियाओं को करते हुए पहले ही मुख को तथा गुदा को हाथ से ढककर बाद में उच्छ्वास ले, यावत वायूत्सर्ग करे

यहाँ शास्त्रकार ने उच्छ्वासादि सात कारणों (प्रसङ्गों) में मुख व अधो-भाग को हाथ से ढकना फरमाया है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि उस समय यदि हाथ में मुख-वस्त्रिका रखने का रिवाज होता तो सूत्रकार हाथ से यतना करने का क्यों कहते? जब कि मुख-वस्त्रिका रखने के प्रधान हेतु में वायु कायादि जीवों की रक्षा मुख्य है, तब ऐसे प्रसंगों के लिए हाथ से यतना करने का विधान कुछ और ही महत्त्व रखता है। इसका खास कारण यह है कि—उच्छ्वास, छींक, उबासी आदि प्रसंगों पर मुख की वायु प्रबल वेग वाली हो जाती है। वह मुख-वस्त्रिका के मुँह पर होते हुए भी बिना किसी बाधा के वेग पूर्वक निकल जाती है, जिससे बहुत अयतना होती है, उक्त प्रसंगों पर सारा मुँह खुल जाता है। और इतने जोर से वायु निकलती है कि कई बार कमर में से धोती की किनार तक टूट जाती है। ऐसा प्रबल वायु का वेग ओष्ठ पर रही हुई मुख-वस्त्रिका की क्या दरकार करे? बस इसीलिए शास्त्रकार ने इन २ प्रसंगों पर विशेष यतना के लिए हाथ के उपयोग करने का विधान किया है, जिससे ठीक तरह यतना हो सके।

यदि इस विधान से मुख-वस्त्रिका का मुँह पर होना नहीं मानेंगे तो आपको अधो-भाग भी वस्त्र रहित मानना पड़ेगा, क्योंकि वहाँ भी हाथ से यत्ना करने का कहा है। वस्त्र धारण

करना तो मानना, और जो जैन साधुत्व की प्रधान परिचायिका मुख-वस्त्रिका है, उसे नहीं मानना कहाँ की बुद्धिमानी है?

इस व्यर्थ की शंका में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है, वो यह कि उच्छ्वासादि सात प्रसङ्गों में "बोलने" का तो कोई प्रसङ्ग भी नहीं बताया है। इसलिये आपके मतानुसार तो खुले मुँह ही बोलना चाहिए। क्योंकि इससे तो आपका कर वस्त्र (हाथ में रहने वाला वस्त्र) भी उड़ जाता है।

इसलिये कुतर्क छोड़ कर जरा सरल बुद्धि से इस प्रकार समझो कि मुख पर मुख-वस्त्रिका तो अवश्य रहती ही है, पर उच्छ्वासादि प्रसङ्ग पर मुख के वायु का वेग अत्यन्त प्रबल हो जाता है, उस समय मुख-वस्त्रिका के रहते हुए भी पूर्ण यत्ना नहीं हो सकती। इसलिये ऐसे प्रसङ्गों पर हाथ से विशेष यत्ना करना ही उचित है।

ज्ञानसुन्दरजी! प्रसन्न होने का बात तो जब होती कि आचाराङ्ग में बोलने का प्रसङ्ग भी बताया गया होता, व साथ ही यत्ना के स्थान "पाणिणा" के साथ साथ पाणिणा-मुहणंतगेण, या मुहणंतगेण ही होता। पर उस समय हमारे हस्तवस्त्री महानुभावों का सद्भाव ही नहीं था, अन्यथा ऐसे अवसरों पर ये कहाँ चूकने वाले थे? अतएव सिद्ध हो गया कि आचाराङ्ग का नाम लेकर हाथ में मुख-वस्त्रिका रखना सर्वथा अनुचित है।

(३)

शंका—श्री ज्ञानसुन्दरजी ने हाथ में मुख-वस्त्रिका रखने के पक्ष में भगवती सूत्र का प्रमाण दिया है, इसका क्या उत्तर है?

समाधान—भगवती सूत्र का नाम लेकर हाथ में वस्त्र रखने का कहना भी भूल है। भगवती सूत्र में श्री गौतमस्वामी के प्रश्न करने पर श्रमण भगवन्त श्री वीर प्रभु ने फरमाया कि जब शक्रेन्द्र मुख पर वस्त्रादि रखकर बोलता है, तो वह निर्वद्य भाषा बोलता है। और वस्त्रादि रहित खुले मुँह बोलता है, तब सावद्य भाषा बोलता है।

श्री गौतमस्वामीजी के इस प्रकार के प्रश्न का यही आशय है, कि हम जो साधु हैं सो तो सदैव मुख-वस्त्रिका मुख पर बाँधी रखते हैं, जिससे वायुकायादि जीवों की दया होती है। परन्तु शक्रेन्द्र कभी तो वस्त्र से यत्ना करके बोलता है, व कभी वैसे ही खुले मुँह भी बोलता होगा। क्योंकि यह तो हमारी तरह मुख-वस्त्रिका धारण नहीं करता है। तब इसकी भाषा कैसी कही जायगी? ठीक इसी विचार से यह प्रश्न उपस्थित हुआ मालूम होता है, जिसका प्रभु ने पूर्वोक्त उत्तर दिया है। प्रभु ने वहाँ देवेन्द्र का लिहाज नहीं करते हुए स्पष्ट फरमा दिया कि जब शक्रेन्द्र वस्त्रादि से यत्ना कर बोलता है, तभी वह भाषा निर्वद्य हो सकती है, अन्यथा सावद्य।

भला ऐसे कथन से ज्ञानसुन्दरजी किस प्रकार हाथ में वस्त्र रखना सिद्ध करते हैं? इस से तो उल्टा इन्हें यह उपदेश प्राप्त करना चाहिए कि जब अविरति गृहस्थ देवेन्द्र होते हुए भी निर्वद्य भाषा के लिए वस्त्रादि से मुँह की यत्ना करके बोलता है; तब हम तो साधु हैं। सर्वथा दया पालना ही हमारी प्रतिज्ञा है, हमें तो अपनी प्रतिज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करने के लिए मुख-वस्त्रिका मुँह पर धारण करनी ही चाहिए! जिससे एक तो जीवों की दया रूप प्रतिज्ञा के पालक बनें। और दूसरा जैन साधु का लिंग भी हमारा कायम रहे। जिसके अवलोकन करने से भव्य जीवों के हृदय में जैन धर्म के प्रति श्रद्धा एवं अहिंसा के प्रति प्रेम उत्पन्न हो। इह तरह संसार का भी कुछ उपकार हो। पूर्व इतिहास भी कहता है कि साधु को देख लेने से ही कइयों को वैराग्य प्राप्त हुआ और उन्होंने क्रमशः अपना आत्म कल्याण भी कर लिया। यह बिना मुख-वस्त्रिका के कैसे हो सकता है? नग्न सिर व हाथ में दण्ड झोली आदि तो अन्य सम्प्रदाय के साधु लोग भी रखते हैं। पर मुख्यतः एक मुख-वस्त्रिका ही जो मुँह पर बँधी रहती है, ऐसी है कि जिससे दूर से जैन साधुत्त्व का परिचय मिल सके।

अतएव भगवती सूत्र का नाम लेकर मुख-वस्त्रिका हाथ में रखना नितान्त अनुचित है।

(४)

शङ्का—श्री ज्ञानसुन्दरजी ने एक प्रमाण फिर आचाराङ्ग का दिया है उसमें यह बताया है कि "वस्त्र रहित रहने वाला साधु ऐसा विचार करे कि मैं तृण, शीतोष्ण, दंस, मशग, आदि परिषह तो सहन करलूंगा पर गुह्य प्रदेश (पुरुष चिन्ह) की लज्जा रूप परिषह को सहन करने में असमर्थ हूँ. ऐसे साधु को एक कटिबंध रखना कल्पता है" इस प्रमाण पर से सुन्दरजी ने यह तर्क की है कि—

सूत्र में तो केवल एक कटिबन्ध रखना कहा है, तब आप के मुँहपत्ति का डोरा कहाँ रहा? इसका क्या समाधान है?

समाधान—ऐसी मिथ्या तर्कें ही अपने कर्ता का पक्ष व्यामोह सिद्ध करती हैं। देखिये—

यह आचाराङ्ग का वचन केवल लज्जा निवारण के लिए वस्त्र रखने का विधान विशेष क्रिया रूप से ही करता है। इससे तो कोई यह भी तर्क कर सकता है कि—कटि वस्त्र के सिवाय अधिक वस्त्र रखना भी अनुचित होगा? पर यह तो हमारे तर्ककर्ता सुन्दरजी को भी मान्य नहीं है। और इससे तो इनका हाथ में वस्त्र रखना भी उड़ जाता है। फिर इन्हें यह कर—वस्त्र भी त्याग देना चाहिये, क्योंकि इस सूत्र से तो यह भी रखना सिद्ध नहीं होता।

सुन्दरजी को मुख-वस्त्रिका के प्रति अपने वैर भाव को छोड़ कर शान्त एवं शुद्ध हृदय से विचार करना चाहिये कि सूत्रकार ने विधिवाद में साधु-साध्वियों के पछेवड़ी चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका आदि रखने की आज्ञा दी है। यह सूत्र तो अपवाद रूप विशेष शक्ति वालों के लिये अचेलक आदि विशेष क्रिया का ही प्रतिपादक है फिर भी वहाँ धार्मिक उपकरण व खास कर साधु वेष को बताने वाले मुखवस्त्रिकादि का अभाव नहीं होता। केवल परिषह सहन ही इसका मुख्य उद्देश्य है और मुख-वस्त्रिका जो मुँह पर बाँधी जाती है, इससे भी कष्ट (परिषह) तो होता ही है। अतएव यहाँ धार्मिक उपकरण को उड़ाने के लिये उक्त सूत्र को साक्षी देना सत्य का खून करना है। वैसे तो श्री सुन्दरजी ने भी प्रश्न व्याकरण का प्रमाण देकर मुख-वस्त्रिका रखना मान्य किया है। फिर ऐसा प्रमाण (जो मुख-वस्त्रिका के लिये लागू नहीं होता) देने से क्या लाभ है? इससे तो इनका हाथ में वस्त्र रखना भी उड़ जाता है। फिर इसमें तो इन्होंने केवल "डोरे" से ही द्वेष प्रदर्शित किया है वह सर्वथा अनुचित है। ऐसी थोथी दलील से इनका अभीष्ट कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। उल्टी मतोन्मता ही टपकती है।

(५)

शंका—अङ्ग चूलिया सूत्र का प्रमाण तो स्पष्ट हाथ में मुख

वस्त्रिका रखने का विधान कर रहा है जिसको श्रीज्ञानसुन्दरजी ने दिया है, इस विषय में आपका क्या समाधान है?

समाधान—इस शंका का समाधान तो स्वयं सुन्दरजी ने ही कर दिया है। वे लिखते हैं कि यह सूत्र स्था० को मान्य नहीं है इस लिये इसका प्रमाण देना ही अनुचित है। हमारी तो दृढ़ मान्यता है कि कोई भी ग्रन्थ क्यों न हो, उसका जो वचन वीतराग वाणी को बाधा कारक नहीं हो, वही हमारा मान्य है। कितने ही शास्त्रों में अनिष्ट परिवर्तन हुवा है जिसका प्रमाण मैंने "लोंकाशाह मत समर्थन" नामक पुस्तक में दिया है। खास अङ्गोपाङ्ग में ही जब मनमाना फेरफार कर दिया गया है, तो अन्य की तो बात ही क्या है? यहाँ प्रकरण विशेष बढ़ जाने के भय से हम उन प्रमाणों को नहीं लिख रहे हैं।

प्रमाण वही उचित हो जो उभय समाज सम्मत हो। हमने भी ऐसे ही प्रमाण और खास कर हमारे प्रतिस्पर्धी (हाथ में वस्त्र रखने वाली) समाज के ही दिये हैं।

अतएव केवल एक पक्ष को ही मान्य तथा सदोष ऐसे प्रमाण कुछ भी कार्य साधक नहीं हो सकते।

(६)

शंका—तुम्हारे मान्य ३२ सूत्रों के अन्दर दशवैकालिक सूत्र है, उसमें मुख-वस्त्रिका को "हत्थग" कहा है, इससे हाथ में

रखना सिद्ध होता है। इसको आप कैसे अमान्य कह सकते हैं?

समाधान—यह शंका भी अज्ञान या मत मोह से प्रेरित होकर ही की गई है। क्योंकि दशवैकालिक सूत्र के उस प्रमाण से मुख-वस्त्रिका का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यह "हत्थग" शब्द दशवैकालिक सूत्र के पाँचवे अ० प्रथमोद्देश की ८३ वीं गाथा में आया है। उस सारी गाथा को यहाँ लिख कर समाधान किया जाता है—

अणुन्नवित्तु मेहावी, पडिच्छिन्नंमि संवुडे।
"हत्थगं" संपमज्जिता, तत्थ भुंजिज्ज संजए॥८३॥

अर्थ—बुद्धिमान् साधु गृहस्थ की आज्ञा लेकर ढके हुए स्थान में उपयोग सहित प्रमार्जनी (पूँजनी-रजोहरणी) से शरीर के हाथ पाँवादि अवयवों को सम्यक् प्रकार से प्रमार्जन कर वहाँ भोजन करे।

इस गाथा में जो "हत्थग" शब्द आया है वह हाथ आदि अवयवों को प्रमार्जनी से पूँजने के अर्थ को बताने वाला है और यही अर्थ यहाँ उपयुक्त एवं प्रकरण के अनुकूल भी है। क्योंकि वहाँ हाथ आदि को प्रमार्जन करने की आवश्यकता है, न कि बोलने की. उल्टा उस समय तो मुख-वस्त्रिका को मुँह से पृथक् करना पड़ता है। कारण भोजन समय का प्रसंग है और प्रमार्जन क्रिया जो है वह प्रमार्जनी से ही होती है। मुख-वस्त्रिका से

र्जन करने की तो कोई विधि ही नहीं है। टीकाकार ने जो "हत्थग" शब्द का अर्थ—मुख-वस्त्रिका किया है, यह केवल अर्थ का अनर्थ ही मालूम होता है। मुख-वस्त्रिका को किसी भी स्थान पर 'हत्थग' नहीं कहा है। इस तरह शब्दों की खींचतान कर अपना पक्ष जमाना निष्फल प्रयास ही है।

(७)

शङ्का—श्रीमान् ज्ञानसुन्दरजी ने आवश्यक सूत्र का अवतरण देकर जो हाथ में मुँहपत्ति रखना सिद्ध किया है, उसका क्या उत्तर है ?

समाधान—श्री ज्ञानसुन्दरजी ने स्व० पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज से अनुवादित आवश्यक सूत्र के "कुइए कक्कराइए छीए" का अवतरण देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि यदि मुख-वस्त्रिका मुख पर होती, तो ऐसा प्रसंग ही क्यों आता ? इस विषय में आपको यह समझना चाहिए कि साधुओं को कितने ही प्रसंगों पर मुख-वस्त्रिका मुंह से अलग भी करनी पड़ती है। जैसे भोजन करते समय, पानी पीते समय, दवाई लेते समय या अन्य ऐसे ही किसी प्रति लेखना आदि प्रसंग पर मुख-वस्त्रिका मुँह से दूर की हो, और हठात् बोलने आदि का काम पड़ जाने से, उस समय यदि खुले मुँह बोला गया हो, ऐसे ही रात्रि में निद्रा लेते प्रमादवश मुख-वस्त्रिका मुँह से हट गई हो, और

अचानक कभी ऐसा प्रसंग बना हो, उसके लिए यहाँ मिथ्या दुष्कृत्य दिया गया है। ऐसे प्रमाद के कार्यों का उदाहरण देकर हाथ में वस्त्र रखने की सिद्धि करना सत्य से सर्वथा दूर है। क्या आपको प्रमादी हालत के प्रमाण ही अभीष्ट हैं?

(८)

इसी प्रकार प्रत्याख्यान प्रसंग में आए हुए "अन्नत्थणा भोगेणं. सहसागारेणं" शब्द से भी जो भ्रम फैलाया गया है. उसके लिए भी सुन्दरजी को यही समझना चाहिए कि ऐसे प्रसंग प्रमादावस्था से उपस्थित होते हैं।

ऐसा कई वार देखने सुनने व अनुभव में आया है कि प्रमाद के कारण व्रत का स्मरण नहीं रहने से जिस वस्तु का त्याग किया गया है वो (या उपवासादि प्रसंग में कोई) वस्तु अचानक मुँह में डाल दी जाती है। और फिर व्रत का स्मरण होता है तब पश्चात्ताप होता है।

ठीक ऐसे ही प्रसंग का यह आगार है। इसमें इसी तरह समझना होगा कि—

यदि किसी साधु ने कुछ व्रत (उपवासादि) किया हो, और भिक्षाचरी के समय अन्य गुर्वादि साधुओं के लिए आहारादि लाया हो और सदैव के अभ्यास (मुहावरे) के कारण व्रत का स्मरण नहीं रहने से भोजन करने बैठा हो. और कुछ त्यागी हुई

वस्तु मुँह में डाल भी ली हो, अथवा एक पात्र में दूध, दाल, पानी आदि परिवर्तन करते समय उस प्रवाही वस्तु का छींटा उड़ कर मुँह में गिर गया हो तो वैसे प्रसंग का यह आगार बताया गया है। ऐसे प्रसंगों का सहारा लेकर अपनी शिथिलाचार रूपी खुले मुँह रहने की प्रवृत्ति को शास्त्र सम्मत कहना मानो डूबते हुए को तिनके का सहारा लेना है। ऐसा प्रयास सदा निष्फल ही सिद्ध होता है।

(९)

वैसे ही दशवैकालिक की अनाचार सम्बन्धी व्याख्या में दन्तधावन और दर्पण में मुँह देखने आदि के अनाचार विषयक कुतर्क की गई है।

ज्ञानसुन्दरजी को मुख-वस्त्रिका हाथ में रखने का जब सूत्र मान्य कोई प्रमाण नहीं मिला, तब ऐसे अनाचारों का नाम लेकर आपने अपना पक्ष कुछ समय के लिए कायम रखने व स्वमान्य समाज में वाह वाही प्राप्त करने की चेष्टा की है। पर शायद आप यह भूले हुए हैं, कि अनाचार तो अनाचार (जो आचरण करने योग्य नहीं) ही है। जो इनका सेवन करेगा वह अनाचारी ही होगा। तथा इनका सेवन मुख-वस्त्रिका के होते हुए भी हो सकता है। इसके लिए बाँधने न बाँधने का कोई प्रश्न नहीं हो सकता. क्योंकि हड्डी माँस त्वचा आदि को सुख उपजाने के लिए जिस

प्रकार तेलादि का मर्दन करना पूर्व के अनाचार में बताया है, वह किसी को दिखाने के लिए नहीं, पर शरीर को साता पहुँचाने के लिए है। ऐसे ही दन्तधावन भी मुँह और दाँतों को विशेष रूप से शान्ति पहुँचाने या पुष्टि करने के निमित्त करना अनाचार बताया है। इसमें मुँहपत्ति बाँधने व खोलने का प्रश्न ही कैसे उपस्थित हो सकता है? और जो काच में मुँह देखने के विषय में आपको शङ्का हो तो यह भी निरर्थक है। क्योंकि यह तो मुख-वस्त्रिका के बँधी हुई होते हुए भी हो सकता है। दूसरा जो अनाचार का सेवन करेगा वह प्रायः किसी के देखते तो करेगा ही नहीं अगर गुप-चुप जिसे अनाचार सेवन करना है वह मुख-वस्त्रिका रखकर या छोड़कर करे, इसकी चिन्ता हम क्यों करें? सूत्रकार ने तो ऐसा करना अनाचार बताया है जो छोड़ने योग्य है। अतएव अनाचारों के उदाहरण शुद्ध क्रिया में देकर भ्रम फैलाना सुज्ञजनों का कार्य्य नहीं है।

(१०)

इसी प्रकार निशीथ सूत्र में मुँह व दाँत से वीणा नामक वादित्र जैसे बना कर बजाने के प्रायश्चिताधिकार में भी कुतर्क की गई है. यह भी सर्वथा अनुचित है। क्योंकि यह मुख-वस्त्रिका के होते हुए भी हो सकती है। इसमें मुख-वस्त्रिका कोई खास बाधा नहीं पहुँचाती और दोष सेवन करने वाला जिसे शुद्ध संयम

पालन करने का प्रेम ही नहीं है, वो यदि मुख-वस्त्रिका खोलकर भी ऐसे दोषों का सेवन करे तो भी इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि वहाँ तो प्रायश्चित कहा है। इसलिए ऐसी निरर्थक बातों का प्रमाण देना, स्वयम् प्रमाणों का अभाव सिद्ध करना है।

(११)

निशीथ सूत्र के पाँचवे उद्देशे में विभूषा के लिए दाँत घिसने का जो दण्ड निर्माण किया है, उससे भी हाथ में वस्त्र रखना सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि इसी सूत्र में आगे चलकर गुह्य प्रदेश की शोभा बढ़ाने के सम्बन्ध में भी वर्णन आता है। अगर विभूषा का अर्थ लोगों में शोभा प्रदर्शित करना ही किया जायगा तो दाँतों पर तो फिर भी सामुदायिक साधुओं की दृष्टि पड़ सकती है किन्तु गुप्ताङ्ग का सम्मार्जन किसे दिखाने के लिये है? फिर यहाँ विभूषा कैसी? इस विषय में तो आपको नग्नता ही माननी पड़ेगी? तभी गुप्ताङ्ग की शोभा का प्रायश्चित विधान सच्चा हो सकता है। महाशय! जरा गीतार्थों से सूत्र के रहस्य समझो और फिर अन्य को समझाने बैठो। अन्यथा "लेने गई पूत, और खो आई खसम" वाली कहावत चरितार्थ होगी। अतएव इस तर्क में भी कोई तथ्य नहीं है।

(१२)

अब इनके दशवैकालिक के दूसरे प्रमाण पर विचार करते

हैं। इन्होंने जयं भुँजंतो "भासंतो" शब्द पर से ही अपने कर वस्त्र की सिद्धि मानली है। यह प्रत्यक्ष में भाषा समिति विषयक अज्ञता सिद्ध करती है। इनको यतना पूर्वक बोलने के विधानों के शास्त्रों में स्पष्ट एवम् विस्तार पूर्वक जो कथन हैं उन्हें देख लेना चाहिये। उससे मालूम हो जायगा कि यत्ना पूर्वक बोलना किसे कहते हैं। इन्होंने इसका अर्थ करने में जो अपनी सङ्कुचित वृत्ति प्रकट की है, वह हास्यास्पद ही है। इन्हें यत्ना पूर्वक बोलने का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि जिससे वो अर्थ सिद्धान्त निर्दिष्ट सभी विधानों को लागु हो सके। यदि संक्षेप में इस वाक्य का अर्थ किया जाय तो निम्न प्रकार से हो सकता है:—

१ यत्ना पूर्वक वह भाषा कि—जो वीतराग वचनों से सम्मत होकर जैन शासन का प्रभाव फैला सके।

२ यत्ना पूर्वक वह भाषा कि—जिससे किसी भी प्राणि का अनिष्ट न हो और न किसी के हृदय में चोट पहुँचे।

३ यत्ना पूर्वक वह भाषा कि—जिससे गुरुओं का निरादर न हो।

४ यत्ना पूर्वक वह भाषा कि—जिससे संसार रत जीवों का उत्थान और कल्याण हो।

५ यत्ना पूर्वक वह भाषा जो—अमङ्गल में-मङ्गल, अशांति में शांति एवम् क्लेश के स्थान पर संप स्थापन करे।

इत्यादि अनेक अर्थ हो सकते हैं। ऐसे अनेक शुभ अर्थ प्रकाशक शब्द का केवल अपने मत की सिद्धि करने के लिए मन-माना सङ्कुचित अर्थ कर डालना प्रत्यक्ष पक्ष व्यामोह है।

अतएव "जयं भुञ्जन्तो भासन्तो" शब्द से हाथ में वस्त्र रखना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता।

(१३)

शङ्का—ज्ञानसुन्दरजी ने लिखा है कि—दिन भर डोरा डाल मुँहपत्ती बाँधने वालों को शासन-भञ्जक, निन्हव कुलिंगी समझते हैं। तो इस विषय में आप हमेशा मुँहपत्ति मुँह पर बाँधना, और वह भी डोरे से, क्या जैन लिंग के लिए इसको पृथक् २ सिद्ध कर सकते हैं?

समाधान—हां, महाशय! हम सिद्ध तो कर चुके हैं, और फिर भी कर सकते हैं। पर ज्ञानसुन्दरजी ने हमारी समाज पर जो प्रेम एवम् सहृदयता प्रकट की है, वह तो उनके योग्य ही है। क्योंकि हमारी समाज में ये महानुभाव रह चुके हैं। इसीके अन्न जल से इनकी देह बढ़ी है। तीसरा ज्ञान-दान भी इन्हें इसी समाज के खजाने से प्राप्त हुआ है। यदि इसके उपलक्ष्य में ज्ञान-सुन्दरजी अपशब्द-गालियाँ प्रदान नहीं करें तो क्या करें? कुछ बदला तो चुकाना ही चाहिये। महाशय! आपको ध्यान रहे कि ज्ञानसुन्दरजी जो कुछ कह रहे हैं वो केवल आन्तरिक

द्वेष के कारण ही। क्योंकि साधुमार्गीय समाज से इन महाशय को चरित्रहीनता के कारण विदाई मिली है। उस वैर का बदला गाली प्रदान द्वारा नहीं लें तो फिर क्या करें? अब आप अपने प्रश्न का उत्तर क्रम से लीजिये—

दिन भर मुख-वस्त्रिका बाँधना—

जब कि हमेशा मुख-वस्त्रिका हाथ में रखने वालों के मान्य सिद्धान्तों में मुँह की वायु से बाहर की वायुकाय की हिंसा होना सिद्ध हो चुका है। और मुख पर मुख-वस्त्रिका बाँधना भी सिद्ध हो चुका है। फिर ऐसी शङ्काओं के लिये तो स्थान ही कहाँ? फिर भी प्रकरण की विशेष पुष्टि और शङ्का के विशेष समाधान के लिये कुछ और बता देना उचित है। देखिये—

यह तो आप जानते ही हैं कि मुँह से वायु तो निकलती ही रहती है। उसके निकलने का कोई नियत समय तो है ही नहीं। ऐसी हालत में हमेशा मुँहपत्ति नहीं बाँधने से पूरी यत्ना किस प्रकार हो सकती है?

दूसरा, नहीं बाँधकर हाथ में रखने वाले भी निम्न लिखित प्रसंगों पर तो बाँधना स्वीकार करते ही हैं। देखिये—

"मुँहपत्ति चर्चासार" में रत्नविजयजी गणि पृ० ४० पंक्ति ७ से लिखते हैं कि—

यद्यपि खास बाँधवाना प्रसंगोनुं चोक्खुं नक्की तारण कदाच आपणे न काढी शकीए तो पण सामान्य सिद्धान्त ए तारवी शक्या के ज्यारे ज्यारे बाँध्या विना उपरना प्रयोजनो बरोबर सिद्ध न करी शकाय, त्यारे त्यारे बांधवीज जोइए, ते बाँधवाना प्रसंगोमां खास करीने नीचेनी बाबतोनो समावेश थशे:—

(१) स्वाध्याय—

१ वाचना
२ पृच्छना
३ परावर्तना
४ वसति प्रमार्जन
५ स्थंडिल गमन
६ व्याख्यान प्रसंग
७ धर्मकथा
८ मृतक ने, विगेरे,

(२) पडिलेहणा—

१ पात्र पडिलेहणा
२ स्थापना पडिलेहणा
३ उपधि पडिलेहणा
४ ओघानी पडिलेहणा

उपरोक्त प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि वाचना, पृच्छा, परिवर्तना, धर्मकथा, प्रतिलेखना, प्रमार्जना, स्थंडिल गमन, व्याख्यान प्रसंग आदि में मुख-वस्त्रिका अवश्य बाँधनी चाहिये।

यद्यपि उक्त प्रसंगों पर बाँधना और बाकी के समय में हाथ में रखना, ऐसा लेखक का अभिप्राय हो सकता है, तथापि लेखक

यह तो स्वीकार करते हैं कि "अभी यह निश्चय अपूर्ण ही है" लेखक के ये शब्द ही कह रहे हैं कि—अभी इसमें और विचार करने की आवश्यकता है। देखिये, वे शब्द "यद्यपि खास बाँधवानाँ प्रसंगोनुं चोक्खुं नक्की तारण कदाच आपणे न काढी शकिए" ये शब्द ही उपरोक्त प्रसंगों के सिवाय भी बाँधने की गुञ्जाइश बताते हैं।

इतने प्रसंगों पर तो बाँधना इन्हें भी स्पष्ट स्वीकार है। फिर भी ये लोग इन सब प्रसंगों पर नहीं बाँधते हैं। इससे तो यही पाया जाता है कि ये लोग मत-मोह एवम् शिथिलता में पड़ कर संयम तथा चारित्र के प्रति उपेक्षा ही करते हैं।

अब हमारे पाठक ही सोचें कि—उक्त प्रसंगों के सिवाय बाकी क्या, व कौनसा कार्य वा समय ऐसा रह जाता है, जिसमें मुख-वस्त्रिका बाँधे बिना रहा जाय। जो लोग मुख से निकलती हुई वायु से बाहर की सचित्त वायुकाय की हिंसा होने की मान्यता रखते हैं, उनके लिये भोजन पान के सिवाय ऐसा कोई भी समय नहीं है कि वे खुले मुँह बिना मुख-वस्त्रिका बांधे रह सकें!

सरे बाजार कई हस्त-वस्त्री साधुओं को खुले मुँह बोलते देखा गया है अतएव ऐसे समय भी मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधी रहनी चाहिए।

तारीख १० अक्टोबर सन् १९२७ की बात है जब यह लेखक स्वयम् अहमदाबाद गया था, वहाँ अन्य दो स्वधर्मियों के साथ" गच्छ

बाँधने के उक्त प्रसंगों के सिवाय अब मुख्यतया चार प्रसंग और रह जाते हैं, एक तो भिक्षाचरी गमन, दूसरा ध्यान (कायोत्सर्ग), तीसरा शयन और चौथा प्रतिक्रमण। क्या इन प्रसंगों पर भी मुख-वस्त्रिका बाँधने की आवश्यकता है? इस पर भी थोड़ा विचार किया जाता है।

(१) जब गौचरी (भिक्षाचरी) के लिए साधु जाते हैं, तब मार्ग में चलते समय यदि उनके मुँह पर मुख-वस्त्रिकाएँ होती हैं तब तो उनका परिचय अपने आप अन्य मतावलम्बियों को हो जाता है। मुख-वस्त्रिका के मुँह पर होने से वे पहिचान लेते हैं कि ये जैन साधु हैं। परन्तु मुख-वस्त्रिका मुँह पर नहीं होकर हाथ में ही हो तो वह जैन लिंग की परिचायिका नहीं ठहर सकती। क्योंकि वैसे हाथ में तो प्रायः कई सम्प्रदाय के साधु कपड़ा आदि रखते हैं।

दूसरा यह देखने में आया है कि सम्वेगी साधु जब भिक्षा

के उपाश्रय में गया, वहाँ के वृद्ध आचार्य निद्रा ले रहे थे और खुले मुंह खुर्राटे भर रहे थे। उस समय हमने उनके एक साधु के साथ लग-भग २०-२५ मिनिट तक वार्तालाप की मगर उन महानुभाव की मुख-वस्त्रिका के दर्शन हमें उनके कमर में पहने हुए चोल पट्टक में खोंसे हुए हुआ, और उस समय दूसरे एक साधु अन्य गृहस्थ से वार्तालाप कर रहे थे, पर वहाँ भी हस्त वस्त्र के उपयोग का अभाव ही था। इस प्रकार मुख-वस्त्रिका की ये लोग दुर्गति करते हैं।

ग्रहण करते हैं तब एक हाथ में तो उनके दण्ड और झोली रहती है। दूसरे हाथ से वे भिक्षादाता को कम लेने व नहीं लेने का लम्बा हाथ कर इशारा करते हुए साथ ही थोड़ा थोड़ा, या नहीं नहीं. ऐसा मुँह से कहते जाते हैं। यह सब खुले मुँह ही होता है। यदि मुँह पर मुख-वस्त्रिका वंधी हुई हो तो ऐसी अयत्ना कदापि नहीं हो सकती।

अतएव भिक्षाचरी को जाते समय भी मुख-वस्त्रिका—लिंग परिचय एवम् जीवों की यत्ना के लिए अवश्य वन्धी हुई होनी चाहिए।

(२) अब ध्यान—कायोत्सर्ग के प्रशंग पर विचार करते हैं। जिस समय कायोत्सर्ग होता है, उस समय ये लोग अपने दोनों हाथों को दोनों जंघाओं पर खुल्ले फैला देते हैं, कायोत्सर्ग में शरीर भी स्थिर रखना पड़ता है। ऐसे समय यदि किसी अन्यमतावलम्बी की इन पर दृष्टि पड़ जाय तो इन्हें कोई जैन साधु नहीं जान सकता। दूसरा कायोत्सर्ग पालते समय भी असावधानी से अयत्ना हो जाना सम्भव है।

(३) शयन के समब निद्रा लेते समय मुख-वस्त्रिका मुँह पर नहीं बाँधने वाले से किस प्रकार यत्ना हो सकती होगी? श्वासोच्छ्वास के सिवाय खाँसने आदि की भी प्रवृत्ति अकस्मात् हो जाती है. और मुख-वस्त्रिका उस समय यातो सिरहाने या

अन्य कहीं विराजमान रहती है। तब ऐसे समय तो अयत्ना अवश्य ही होती है। इसलिए इस समय भी मुख-वस्त्रिका अवश्य मुँह पर बंधी रहनी चाहिए।

(४) प्रतिक्रमण करते समय भी मुख-वस्त्रिका मुख पर रहनी आवश्यक है। क्योंकि जब वन्दना नमस्कार किया जाता है, तब और शक्रस्तव करते समय दोनों हाथ घुटने पर जोड़े हुए रख कर मस्तक झुकाकर पाठ उच्चारण किया जाता है, एवम् खमासमणा देते हुए आवर्त करते समय मुख से पाठ उच्चारण और हाथों से आवर्तन किया जाता है, उस समय हाथ में रही हुई मुख-वस्त्रिका यत्ना के कार्य में अनुपयोगी ही सिद्ध होती है और अयत्ना हो ही जाती है। ऐसे समय में यदि मुख-वस्त्रिका मुँह पर बंधी हुई हो तो यत्ना अच्छी तरह से हो सकती है, अन्यथा नहीं।

इस तरह दूरदर्शी होकर यदि विचार किया जाय तो यही निश्चय होता है कि मुख-वस्त्रिका को सदैव मुख पर बांधना ही उचित है। जो लोग मुँह पर मुख-वस्त्रिका नहीं बांधते हैं वे न तो वायुकायादि जीवों की यत्ना ही कर सकते हैं और लिंग रहित होने से, न जैन साधु ही कहे जा सकते हैं।

जो महाशय मुख-वस्त्रिका को मुँह पर नहीं बांधते हैं वे पूर्वार्ध में बताए हुए प्रमाणों और उनके आचार्यों के उद्‌गारों को पढ़कर यदि शांत भाव से विचार करेंगे तो उन्हें अवश्य विश्वास

होगा कि मुख-वस्त्रिका मुँह पर सदैव बांधना उचित ही है। अगर वे मत-मोह से इतना नहीं कर सकें तो कम से कम अपने आचार्यों के निर्देश किये हुए प्रसंगों पर तो मुख पर मुँहपत्ति बांधकर धार्मिक क्रियाओं में होने वाली उतनी हिंसा से अवश्य बचेंगे, ऐसी आशा है।

महानुभावो! यदि सदैव बांधने के कष्ट से डरकर हमेशा मुख-वस्त्रिका नहीं बांध सको तो कम से कम उक्त प्रसंगों पर तो अवश्य बांधो और सदैव बांधने वालों की निन्दा तो मत करो। सदैव बांधने वालों को आदर की दृष्टि से देख कर उनका अनुमोदन करो और वैसी क्रिया करने की भावना रक्खो, जिससे मिथ्यात्त्व रूप पाप से तो बचे रहोगे। क्योंकि स्वयम् सागरानन्द सूरि लिखते हैं कि—"निरवद्य भाषानी प्रतिज्ञा वाला छतां जो मुँहपत्ति ने न माने तो मिथ्यात्त्वी बने" अतएव मिथ्यात्त्व रूपी आस्रव से बचने का अवश्य प्रयत्न करिये। अन्यथा ध्यान रहे कि असत्य प्रचार में अपनी शक्ति का दुरुपयोग कहीं पर-भव पीडाकारी शूल न हो जाय।

मुँहपत्ति में डोरा डालना—

जहां मुख-वस्त्रिका मुँह पर बांधना सिद्ध है वहां यह शंका ही अनुचित है कि मुख-वस्त्रिका डोरे से क्यों बांधी जाय? फिर भी इस सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

मुख-वस्त्रिका होती तो वस्त्र की ही है और वह भी आठ प्रत वाली और कानों से लेकर ही बांधी जाती है। तब बांधने के लिए किसी दूसरी चीज की आवश्यकता होती ही है। वह वस्त्र, सूत, या डोरी के सिवाय अन्य क्या हो सकता है? उसमें भी वस्त्र की चिंधी (लीरी) तो चपटी और जल्दी फट जाने वाली होती है। वारवार इसकी याचना भी करनी पड़े। इसलिये इस कार्य में बटे हुए सूत की डोरी ही अधिक उपयोगी हो सकती है। अन्यथा आठ प्रत वाली मुँहपत्ति कैसे बंध सकती है ?

खरतर गच्छीय साधु व्याख्यान के समय जो नासिका से मुख-वस्त्रिका बांधते हैं, वे भी कानों में ही पिरोते हैं। परन्तु वे मुख-वस्त्रिका ही के कपड़े से उसे बांधते हैं। जिससे वह आठ प्रत वाली नहीं रहती, इससे मुँह की वायु का वेग उतना कम नहीं हो सकता, जितना आठ प्रतवाली से होता है। अतएव आठ प्रत वाली मुख-वस्त्रिका ही मुँह पर बांधनी उचित है। प्रमाण के लिए देखिए:—

(१) भगवती सूत्र श० ९ उ० ३३ में जमालि के दीक्षाधिकार में ऐसा उलेख है कि—

" सुद्धाए अट्ठपडलाए पोत्तिए मुहं बंधई "

जो भी यह पाठ गृहस्थ नाई के सम्बन्ध का है, तथापि इस से यह तो सिद्ध हो सकता है कि उस समय भी आठ प्रत वाली

ही मुख-वस्त्रिका मुँह पर बांधी जाती थी। दूसरी बात यह भी मालूम होती है कि जब व्यावहारिक केश कर्तन के कार्य में थूक के कणों व मुँह के श्वास का बचाव करने के लिए भी आठ प्रत के विना उद्देश्य सिद्धि नहीं हो सकता, तो वायु जैसे सूक्ष्म जीवों की रक्षा करने के लिए तो आठ प्रत वाली होनी ही चाहिये।

(२) "आचार दिनकर" में लिखा है कि—वितस्तिश्च त्वाराङ्गुलाश्च, एतच्चतुरस्र मुख-वस्त्रिका प्रमाणम्। तस्य समाचरणा वस्त्रस्यपालिं वामतो विधाय, ततः परं मङ्गनेन द्विगुणं कुर्यात्, पुनस्ततोपि द्विगुणम्, ततः तिर्यग् भङ्गेनाष्ट-गुणं कुर्यात्।

एक वेंत और चार अंगुल, यह चोकोन मुँहपत्ति का प्रमाण है। उसके आचरण करने याने वांधने की विधि—कपड़े की वायीं ओर से पाली वनाकर, उसके वाद मोड़ के दो पट करे, फिर उससे भी दो पट वाद तिरछी मोड़ के आठ गुण (आठ पट) करे।

इसमें आठ प्रत वाली मुख-वस्त्रिका वनाने की विधि वताई गई है।

(३) मुख-वस्त्रिका हाथ में रखने वाले भी आठ प्रत वाली ही रखते हैं।

(४) मूर्ति-पूजा के समय मुखकोष वांधा जाता है वह भी आठ प्रत वाला ही होता है।

अतएव आठ प्रत वाली मुख-वस्त्रिका मुँह पर बांधना प्रामाणिक है और वह बिना डोरे के नहीं बांधी जा सकती है।

जो लोग कानों के छिद्रों में पिरोकर बांधते हैं, उसमें खास बिटम्बना तो यह है कि जिस व्यक्ति के कर्ण छेद नहीं किया हो, या छिद्र छोटे हों, तो दीक्षा लेने पर उसे फिर से कर्ण वेध इसी मुख-वस्त्रिका के लिए करना पड़ता है। तभी वह इस क्रिया का पालन कर सकता है।

बड़े खेद की बात है कि ये लोग कर्णवेध "छविच्छेद" (चर्मछेद) कर्म तो करलेंगे परन्तु पक्षपात के वश होकर जिससे अधिक यत्ना होसके, ऐसी आठ प्रत वाली मुख-वस्त्रिका डोरे से मुँह पर नहीं बांधेंगे। क्या पक्ष व्यामोह की भी कुछ सीमा है ?

ऊपर के विचार से पाठक समझ सकते हैं कि ऐसी शङ्का करना ही वास्तव में व्यर्थ है। दूसरी बात शास्त्रकार तो प्रायः सामान्य विधि का ही निर्देश करते हैं। उसके प्रसिद्ध व्यवहारों का निर्देश तो वक्ताओं व श्रोताओं की बुद्धि पर ही आश्रित रहता है। स्थूल दृष्टि से विचार करने पर भी मालूम हो सकता है कि कई वस्तुएं ऐसी हैं जो अपने साथ उपयोग में आने वाली दूसरी वस्तु को चट मांग लेती हैं। जैसे–रजोहरण की फलियों को दंडी से बांधने के लिए डोरी की आवश्यकता रहती है, और वह आगम प्रमाण के बिना भी बांधी जाती है। साध्वी के पहनने

का चोलपट्टक (साड़ी) का विधान है किन्तु वह किससे और कैसे बांधना, इसका वर्णन नहीं होने पर भी उपयोग के अनुसार साधन लिये ही जाते हैं। जैसे पाजामा व लहंगा कमर से बांधने के लिए चट नाड़े की आवश्यकता हो ही जाती है। यदि कोई इनका प्रमाण मांगे तो वह अज्ञानी समझा जाता है। इसी प्रकार मुख-वस्त्रिका के लिए भी समझें।

मुख-वस्त्रिका जैन लिंग है।

यद्यपि पूर्वार्द्ध में यह विषय सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है, फिर भी ज्ञानसुन्दरजी के मिथ्या आक्षेप का प्रतिकार करने के लिए कुछ पंक्तियां और भी लिखी जाती हैं—

यह बात तो स्पष्ट है कि—श्री ज्ञानसुन्दरजी ने अपना पूर्व वैर अदा करने के लिये ही ये गालियां दी हैं। इस आवेग में आपने यह नहीं सोचा कि इसमें कहीं मेरी अज्ञता या शत्रुता तो प्रकट नहीं होगी ?

जब कि श्री ज्ञानसुन्दरजी के सहयोगी ही मुख-वस्त्रिका मुँह पर बांधना जैन लिंग और नहीं बांधना कुलिंग स्वीकार कर रहे हैं, फिर इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिये ? देखिये वे प्रमाण—

" मुँहपत्ति चर्चा सार " पंन्यास रत्न विजयजी गणि रचित पृष्ट ३९ पंक्ति ५—मुख-वस्त्रिका किस लिए रक्खी जाती है इसके कारणों में तीसरा कारणः—

" साधुवेश-लिंगमाटे "

इसमें मुख-वस्त्रिका को साधु वेश-लिंग में स्वीकार किया है। आगे देखिये—

"प्रसंगे मुहपत्ति वंधन ए कुलिंग नथी"

पृष्ठ ३५ पंक्ति ५

"वांधवाना प्रसंगे न वांधवामां आवे, ते कुलिंग"

पृष्ठ ४१ पंक्ति १२

क्या? अब भी ज्ञानसुन्दरजी अपने को स्वलिंगी तथा शुद्ध प्रवृत्ति वालों को कुलिंगी कहने की धृष्टता करेंगे?

अगर वे तर्क करें कि इसमें तो प्रसंगोपात ही वांधने को सुलिंग कहा है, सारे दिन वांधने को सुलिंग कैसे कह सकते हैं? इसके समाधान में प्रेम पूर्वक निवेदन किया जाता है कि महाशय! अभी तो मुँहपत्ति चर्चा सार के कर्ता इस (मुख-वस्त्रिका मुँह पर वांधने के) विषय में निर्णय ही पूर्ण नहीं कर सके। वे स्वयम् पृष्ठ ४० में लिखते हैं कि—"यद्यपि खास वांधवाना प्रसंगोनुं चोक्खुं नक्की तारण कदाच आपणे न काढी शकीए" ये शब्द ही विचार को अवकाश दे रहे हैं? जिन पर पहले विचार किया जा चुका है। दूसरा वे स्वयम् कर-वस्त्री हैं, इसलिए अपने मत की कुछ न कुछ तो वात रखेंगे ही। तीसरा मुँह की वायु से वायुकायादि जीवों की रक्षा मुख-वस्त्रिका वांधे विना नहीं हो

सकती, इसलिये सदैव वांधना योग्य ही है, यह निस्संदेह समझें।

महाशय! आपके इन पण्डित रत्नविजयजी के लेख से तो आप और आपके साथी उनके बताये हुए सब प्रसंगों पर मुख-वस्त्रिका नहीं वांधने के कारण अवश्य कुलिंगी ही हैं।

अपने माननीय आचार्य आदि के वाक्यों से अब भी आप को परभव का कुछ भय खाना चाहिए और अपने पकड़े हुए मिथ्या हठ को तिलांजलि देकर मुख-वस्त्रिका मुँह पर वांधनी चाहिये। तथा अपने उपकारी सुसाधुओं की निन्दा करते कुछ शरमाना चाहिये। इसी में तुम्हारा हित है।※

(१४)

शंका—आपके समाज की ओर से प्रकाशित हुए कई ग्रन्थों में तीर्थंकर प्रभु के फोटो दिये गये हैं, उन फोटुओं में उनके मुँह पर मुख-वस्त्रिका बताई गई है। तो क्या तीर्थंकर प्रभु भी मुँह-पत्ति बाँधते थे?

समाधान—महाशय! आपने जो कुछ भी शंका की है, और श्री ज्ञानसुन्दरजी ने भी ऐसी ही विना आगा पीछा सोचे द्वेष मिश्रित कुतर्क कर डाली है। उसके लिए आपको सरल बुद्धि से

※ मुँहपत्ति चर्चासार पृष्ठ ४० में मुख-वस्त्रिका बाँधने के प्रसंग बताये हैं, उसमें अन्तिम कारण में मृतक ने "विगेरे" इस प्रकार आदि शब्द आया है। यह भी अन्य प्रसंगों को स्थान देता है।

इस प्रकार समझना चाहिए, कि—

यद्यपि तीर्थंकर प्रभु वस्त्र मात्र नहीं रखते हैं और नग्न ही रहते हैं, तथापि वेही प्रभु अन्य साध्वादि को वस्त्रादि रखने का विधान फरमाते हैं, इसमें तो आपके व हमारे मतभेद है ही नहीं। वस्त्र के नहीं होने पर भी प्रभु अतिशय के प्रभाव से सर्व साधारण को वस्त्र युक्त जैसे ही दीखते थे, यह भी दोनों मानते हैं। फिर जब प्रभु साधु वेष युक्त दिखाई देते हों, तो साधु वेष में तो मुख-वस्त्रिका है ही! फिर आपकी यह तर्क कहाँ ठहर सकती है? और इस तर्क से तो आपका कर-वस्त्र भी उड़ जाता है। क्या इसका भी कुछ भान है?

जो लोग तीर्थंकर प्रभु को नग्न मान कर भी उनकी मूर्ति के लंगोट कसते हैं ❀ और वीतराग अवस्था की (कायोत्सर्गयुक्त) कही जाने वाली मूर्ति को मुकुट कुंडलादि लगाकर राजा जैसी बना देते हैं। क्या वे लोग इस प्रकार के प्रश्न करने के अधिकारी हैं?

❀ तीर्थंकर प्रभु को नग्न मानकर उनकी मूर्ति के कोट जाकेट पतलून कालर आदि पहनाकर उन्हें विदेशी जैसे बनाने वाले, और इस प्रकार मनमानी मौज मनाने में प्रभु-भक्ति बतलाने वाले श्री ज्ञानसुन्दरजी को अनुचित रीति से की गई अपनी अनधिकार दस्तंदाजी के लिए लज्जित होना चाहिए।

यहाँ पाठकों को यह ध्यान में रखना चाहिये कि—तीर्थंकर प्रभु यद्यपि मुख-वस्त्रिका आदि नहीं† रखते थे, तथापि वे निर्वद्य भाषा ही बोलते थे। प्रभु ने कभी सावद्य भाषा बोली ही नहीं, ऐसा खास आचारांग-सूत्र से पाया जाता है। अपने अतिशय प्रभाव के कारण सर्व साधारण की दृष्टि में वे साधु वेष युक्त दृष्टिगत होते थे। इसलिए अगर उन प्रभु का चित्र मुख-वस्त्रिका युक्त दिया गया तो क्या, अनुचित है ?

हम ऐसे कई चित्र मूर्ति-पूजकों की ओर के बता सकते हैं, जिनमें उन्होंने प्रभु को वस्त्र-युक्त चित्रण किया है। खासकर उसमें चन्दनबालाजी के दान देने के समय का चित्र तो प्रत्यक्ष इस बात को स्पष्ट कर रहा है। ऐसे एक नहीं अनेकों चित्र हैं *। फिर ज्ञानसुन्दरजी को यह कुतर्क करने की बुद्धि क्यों सूझी ?

---

† सिर्फ इन्द्र द्वारा अर्पित खन्धे पर रखा हुवा वस्त्र ही रहता है।

* ज्ञानसुन्दरजी ! अपना धन्य भाग्य समझो कि तुम्हारी यह कुतर्क किसी दिगम्बर के देखने में नहीं आई। अन्यथा ऐसे कल्पित चित्रों के लिए जब वे आप से जवाब तलब करेंगे, तब तो आपको बगलें ही झांकनी पड़ेंगी। क्योंकि आपने नग्न प्रभु को वस्त्र पहिनाये हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो इन ज्ञानसुन्दरजी जैसे फक्कड़ों ने ही जैन समाज को बरबाद किया है। यदि ये मूर्ति पर व्यर्थ के मन कल्पित आडम्बर नहीं मढ़ते तो दि० श्वे० के ये झगड़े भी उपस्थित नहीं होते और करोड़ों रुपयों का चूर्ण नहीं होता। बस यह करामात इन कुरु गुरुओं की ही है।

क़ेवल वैर चुकाने के लिये ही क्या ?

(१५)

शङ्का—मुँह पर बाँधने के कारण मुख-वस्त्रिका थूँक से गीली हो जाती है, जिससे उसमें सम्मूर्छिम जीव उत्पन्न हो जाते हैं और उनकी हिंसा भी होती है। ऐसी हालत में यह क्रिया किस प्रकार उचित कही जा सकती है ?

समाधान—मुँहपत्ति में थूँक से सम्मूर्छिम जीवों की उत्पत्ति बताना भी शास्त्र-ज्ञान की अपूर्णता सिद्ध करता है। सूत्रों में कहीं भी थूँक से सम्मूर्छिम जीवों की उत्पत्ति होना नहीं कहा है। देखिये—

पन्नवणा सूत्र में सम्मूर्छिम जीवों की उत्पत्ति के चौदह स्थान बताये हैं, जैसे—

उच्चारेसुवा १, पासवणेसुवा २, खेलेसुवा ३, संघाणेसुवा ४ वंतेसुवा ५, पित्तेसुवा ६, पूइएसुवा ७, सोणिएसुवा ८, सुक्केसुवा ९ सुक्कपोग्गल परिसाडिएसुवा १०, विगय जीवकलेवरेसुवा ११, इत्थी पुरिस संजोएसुवा १२, नगर निद्धमणेसुवा १३ और सव्वेसुचेव असुइ ठाणेसुवा १४।

अर्थ—(१) विष्टा में, (२) पेशाब में, (३) खेंकार (बलगम) में, (४) नाक के श्लेष्म (मल) में, (५) वमन में, (६) पित्त में, (७) पीप में, (८) रक्त में, (९) वीर्य में, (१०) वीर्य के

सूखे हुए पुद्गलों के गीले होने पर, (११) शव में, (१२) मैथुन में, (१३) शहरकी मोरी में और (१४) सब अशुचि के थान में।

इन चौदह स्थानों में थूँक से जीवोत्पत्ति होने का तो कोई थान ही नहीं है। फिर यह नूतन सिद्धान्त हाथ में वस्त्र रखने वालों ने न जाने किस शास्त्र में से घड़ निकाला है?

महानुभाव! अगर कुछ देर के लिए "तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय के अनुसार आपकी यह दलील मान भी ली जाय, तो यह तो आप ही पर लागु होती है। क्योंकि आपकी समाज के बहुत से (खरतर गच्छादि के) मुनि व्याख्यान के समय में नाक और मुँह पर वस्त्र बाँधते हैं और घण्टों तक जोर जोर से बोलते हैं। इससे उनकी वह मुख-वस्त्रिका अधिक गीली हो ही जाती है। क्योंकि वे तो मुँह से चिपकाकर बाँधते हैं और आपके इस नूतन सिद्धान्त के अनुसार उसमें जीवोत्पत्ति भी होती ही होगी? इससे तो वे साधु असंख्य सम्मूर्छिम जीवों के घातक होते ही होंगे? क्योंकि यह तो आप लोगों का ही अभिमत सिद्धान्त है।

हम तो मानते हैं कि वास्तव में सिद्धान्त के अनुसार मुँह पर लगी हुई मुँहपत्ति में थूँक से सम्मूर्छिम जीवों की उत्पत्ति होती ही नहीं है. यह तो केवल हमारे इन बन्धुओं की निष्फल चेष्टा ही है।

(१६)

शङ्का—श्रीमान ज्ञानसुन्दरजी ने अपनी पुस्तक में एक जगह लिखा है कि–जब स्थानकवासियों से पूछा जाता है कि तुम मुख-वस्त्रिका क्यों बाँधते हो, तब वे कहते हैं कि हम से उपयोग नहीं रहता इसलिये। 'तो क्या यह बात सत्य है ?

समाधान—श्री ज्ञानसुन्दरजी की बातों में सच्चाई का तो कहना ही क्या है ? इन्हें तो किसी तरह अपना अभीष्ट साधना है चाहें वह उचित हो, या अनुचित ?

जब कि मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधने के विषय में साधु-मार्गियों के पास काफी प्रमाण हैं, तब वे केवल ऐसी लचर दलील ही उत्तर में देवें, यह कैसे हो सकता है ? और जो उपयोगवन्त होने का दम भरते हैं उनकी हालत तो जरा तपासो, जिससे मालूम हो जाय कि ये कितने अंशों में सत्य हैं।

पाठको ! आप इतना तो निश्चय समझें कि हाथ में वस्त्र रखने वाले, मुँह पर बाँधने वालों के समान यतना नहीं रखते, और वे अधिकांश खुले मुँह ही बोलते हैं। इस लेखक ने स्वयम् इनके बड़े २ आचार्यों को देखा है कि जो हाथ में वस्त्र होते हुए भी खुले मुँह बातों के सपाटे मारते थे। कितने ही ऐसे महाशय (साधु) भी देखे गये हैं कि जो जहाँ बैठे २ या खड़े २ बातें कर रहे थे, उनके हाथ में मुख-वस्त्रिका नहीं थी, अपितु

उनसे कुछ दूर रक्खी हुई थी।* हमारे प्रेमी पाठक एवम् निःपक्ष मूर्ति-पूजक वन्धु भी इन वातों को भली प्रकार जानते होंगे।

अब हम विशेष नहीं लिखकर केवल एक बने हुए प्रसंग का प्रमाण देकर इस विषय को पूर्ण करते हैं।

"मुम्बई समाचार" दैनिक मंगलवार, ता० ८ अगस्त सन् १९३४ के पृष्ठ १५ में "जइन समाज सावधान" शीर्षक लेख से श्री विजयनीतिसूरिजी के प्रशिष्य पं० कल्याणविजयजी लिखते हैं:—

"नहीं बाँधनार ने केटलुँ नुकसान थाय छे तेनो ताजो बनेलो दाखलो जनतानी आगल मूकुछुं, अमदावाद शहेरमां अमुक उपाश्रय मां स्थीरता करता अमुक आचार्य महाराज व्याख्यान नी पीठ पर बेसी व्याख्यान खूब जोरदार करी रह्या हता, जुस्सा मां. चालता व्याख्यान मां—'मक्षीकाए मुखमां प्रवेश कर्यो' प्रवेश करतां व्याख्यान नो ध्वनि अटके छे, अने वमन नो ध्वनि

---

* सम्वत् १९९६ के श्रावण की बात है जब यह लेखक अपने चार स्वधर्मी बन्धुओं के साथ रेल्वे में जोन टिकिट से अजमेर गया था तब स्वयं ज्ञानसुन्दरजी भी वहीं थे। जब हम ज्ञानसुन्दरजी के पास गये तो वे सोये हुए थे। हमें देख कर उठे और मुख-वस्त्रिका की इधर उधर खोज की, नहीं मिलने पर ओढने की चद्दर का पल्ला मुँह पर लगा कर बात करने लगे। यह है सुन्दरजी की उपयोग रखने की तत्परता। —ले० आवृत्ति २ के लिये।

झलके छे. भाइओ! विचार करजो, वीतरागना वचनामृत नुं पान करता श्रोताओ शुं सांभले छे? वमन के? आ प्रताप कोनो? व्याख्यान मां मुहपत्ति नहीं बांधनाराओनो! बांधनाराओ ना मुखमां मक्षिका प्रवेश करी शके के? एवा अनेक कारणे शास्त्रकार महाराजे मुँहपत्ति बांधी व्याख्यानादिक करवा भलामण करेल छे."

इस विषय में और भी सत्य घटनाएँ दी जा सकती हैं, पर पाठक स्वयम् अनुभवशील होंगे; अतः निबन्ध का कलेवर व्यर्थ बढ़ाकर उपरोक्त घटना ही पर दो शब्द लिख कर विषय पूर्ण करता हूँ।

हाथ में रहने वाली जिस मुख-वस्त्रिका से ऐसे अनर्थ हों, व मक्खी जैसे प्राणी की भी जो रक्षा नहीं कर सकती, वह वायुकाय जैसी सूक्ष्म काय जीवों की रक्षा किस प्रकार कर सकती है?

फिर प्रसंग भी कैसा? व्याख्यान का! जहाँ सैंकड़ों मनुष्यों की मौजूदगी होगी, वहाँ भी ये लोग इस प्रकार उपयोग का आदर्श सिद्ध करते हैं, तब बाद में या अकेले में अथवा विरल जनों में तो कहना ही क्या? उस समय इस कर-वस्त्र का क्या उपयोग होता होगा? और कितनी अयतना होती होगी? यह तो ज्ञानी जाने। इससे साफ जाहिर होता है कि जो उपयोग का व्यर्थ बहाना कर मुख-वस्त्रिका नहीं बांधते हैं, वे जिन-वचनों की उपेक्षा, बेदरकारी, एवम् जीवों की विराधना करने वाले हैं।

असलियत में इस हाथ में रहने वाले वस्त्र को तो मुँहपत्ति नहीं कह कर "मुँह पोंछना" कहा जाय तो उपयुक्त होगा, क्योंकि ये लोग पानी पी लेने पर, या पसीना हो जाने पर इसी से मुँह पोंछते देखे गये हैं। मुख-वस्त्रिका तो केवल नाम मात्र की (कहने के लिए) ही है। वास्तव में तो उसका दुरुपयोग ही होता है।

(१७)

शङ्का—श्री ज्ञानसुन्दरजी ने तो इतिहास से भी मुख-वस्त्रिका को हाथ में रखना सिद्ध किया है। क्या आप भी ऐसा प्रमाण दे सकते हैं ?

समाधान—भाई! आप यह तो जानते ही होंगे कि जैन शासन में जो शिथिलता घुसी है, वह आजकल की नहीं है, वल्कि सैंकड़ों हजारों वर्षों से है और सप्रमाण सिद्ध भी है। (जिसके लिए एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखने का विचार है।) फिर उसमें जो कुछ हो वह थोड़ा ही है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि चाहे थोड़ी संख्या में ही हो किन्तु सुविहितों की सत्ता भी अवश्य थी, और मुख-वस्त्रिका के मुँह पर बाँधने की प्रवृत्ति भी थी। परन्तु ज्यों २ शिथिलाचार बढ़ता गया त्यों २ इसमें छूट होती गई, व अन्त में मुँह से उतर ही पड़ी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि इन लोगों के ग्रन्थ तो कितने ही प्रसंगों पर बाँधना बताते हैं और ये कितने प्रसंगों पर बाँधते हैं? मतलब यह कि जब

झलके छे. भाइओ! विचार करजो, वीतरागना वचनामृत नुं पान करता श्रोताओ शुं सांभले छे? वमन के? आ प्रताप कोनो? व्याख्यान मां मुहपत्ति नहीं वांधनाराओनो! वांधनाराओ ना मुखमां मक्षिका प्रवेश करी शके के? एवा अनेक कारणे शास्त्रकार महाराजे मुँहपत्ति वांधी व्याख्यानादिक करवा भलामण करेल छे."

इस विषय में और भी सत्य घटनाएँ दी जा सकती हैं, पर पाठक स्वयम् अनुभवशील होंगे; अतः निवन्ध का कलेवर व्यर्थ वढ़ाकर उपरोक्त घटना ही पर दो शब्द लिख कर विषय पूर्ण करता हूँ।

हाथ में रहने वाली जिस मुख-वस्त्रिका से ऐसे अनर्थ हों, व मक्खी जैसे प्राणी की भी जो रक्षा नहीं कर सकती, वह वायुकाय जैसी सूक्ष्म काय जीवों की रक्षा किस प्रकार कर सकती है?

फिर प्रसंग भी कैसा? व्याख्यान का! जहाँ सैंकड़ों मनुष्यों की मौजूदगी होगी, वहाँ भी ये लोग इस प्रकार उपयोग का आदर्श सिद्ध करते हैं, तव वाद में या अकेले में अथवा विरल जनों में तो कहना ही क्या? उस समय इस कर-वस्त्र का क्या उपयोग होता होगा? और कितनी अयतना होती होगी? यह तो ज्ञानी जाने। इससे साफ जाहिर होता है कि जो उपयोग का व्यर्थ वहाना कर मुख-वस्त्रिका नहीं वांधते हैं, वे जिन-वचनों की उपेक्षा वेदरकारी, एवम् जीवों की विराधना करने वाले हैं।

असलियत में इस हाथ में रहने वाले वस्त्र को तो मुँहपत्ति नहीं कह कर "मुँह पोंछना" कहा जाय तो उपयुक्त होगा, क्योंकि ये लोग पानी पी लेने पर, या पसीना हो जाने पर इसी से मुँह पोंछते देखे गये हैं। मुख-वस्त्रिका तो केवल नाम मात्र की (कहने के लिए) ही है। वास्तव में तो उसका दुरुपयोग ही होता है।

(१७)

शङ्का—श्री ज्ञानसुन्दरजी ने तो इतिहास से भी मुख-वस्त्रिका को हाथ में रखना सिद्ध किया है। क्या आप भी ऐसा प्रमाण दे सकते हैं?

समाधान—भाई! आप यह तो जानते ही होंगे कि जैन शासन में जो शिथिलता घुसी है, वह आजकल की नहीं है, बल्कि सैंकड़ों हजारों वर्षों से है और सप्रमाण सिद्ध भी है। (जिसके लिए एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखने का विचार है।) फिर उसमें जो कुछ हो वह थोड़ा ही है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि चाहे थोड़ी संख्या में ही हो किन्तु सुविहितों की सत्ता भी अवश्य थी, और मुख-वस्त्रिका के मुँह पर बाँधने की प्रवृत्ति भी थी। परन्तु ज्यों २ शिथिलाचार बढ़ता गया त्यों २ इसमें छूट होती गई, व अन्त में मुँह से उतर ही पड़ी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि इन लोगों के ग्रन्थ तो कितने ही प्रसंगों पर बाँधना बताते हैं और ये कितने प्रसंगों पर बाँधते हैं? मतलब यह कि जब

शिथिलाचार का प्रवेश हुवा तब इस मुख-वस्त्रिका को पूर्वोक्त ७-८ प्रसंगों में बाँधने का ही मान्य रख कर बाकी के समय नहीं बाँधने का निर्णय किया गया। और जब शिथिलाचार अधिक बढ़ा तो केवल व्याख्यान के प्रसंग पर ही बाँधना मानकर अन्य समय के लिए उपेक्षा की गई और अब तो अधिकांश बाँधने में ही मिथ्यात्त्व एवं पाप मानने लगे हैं। यह सब शिथिलाचार का ही प्रभाव है। अगर समय ने पल्टा खाया, तो सम्भव है, फिर मुख-वस्त्रिका को अपना पूर्व स्थान इन लोगों से प्राप्त हो जाय।

हमें इतिहास का प्रमाण खोजने की आवश्यकता ही क्या है? इन्हीं के ग्रन्थ बता रहे हैं कि भुवन भानु केवली, हरिबल मच्छी, हीरविजयसूरि आदि के समय मुख-वस्त्रिका बाँधी जाती थी और 'मुँहपत्ति चर्चासार' के चित्र भी बता रहे हैं कि श्रीपाल राजा के समय भी मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधी जाती थी। फिर हमें व्यर्थ के कष्ट उठाने की क्या जरूरत है?

(१८)

ज्ञानसुन्दरजी अर्धमागधी कोष को देख कर तो भड़क ही उठे हैं, और अपनी विकृत वाणी के कुछ छींटे जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान, भारत रत्न शतावधानी पण्डित मुनिराज श्री रत्नचन्द्रजी महाराज पर भी डाले हैं। परन्तु सुन्दरजी को उत्तरासंग का वह चित्र देखकर भड़कने की आवश्यकता नहीं है। इससे तो इनकी

योग्यता और हठाग्रहता का ठीक ठीक पता चल जाता है। अगर सुन्दरजी महाशय शान्त भाव से विचार करते तो इन्हें ऐसी कुतर्क करने की बुद्धि नहीं होती।

अब हम इन्हें सुझाते हैं कि आप जरा सत् गुरुओं की शरण लेकर सिद्धान्तों की सद्बुद्धि से स्वाध्याय करें, और फिर तर्क उठाने की हिम्मत कीजिये। देखिये, निम्न प्रमाण क्या बताते हैं:—

(१) भगवती सूत्रानुसार मुँह पर वस्त्र रख कर बोली हुई भाषा ही निरवद्य भाषा हो सकती है। और भगवती उपाशक दशाङ्ग, औपपातिक आदि सूत्रों में राजाओं, श्रावकों आदि के प्रभु वन्दन करने को जाने का वर्णन आया है। वहाँ वे उत्तरासंग करके गये थे, ऐसा कथन भी है। उन्होंने धर्मोपदेश भी श्रवण किया, और प्रश्नोत्तर भी हुए थे, तो क्या वे ऐसे प्रसंग में खुले मुँह से बोले थे? नहीं। उन्होंने मुँह पर वस्त्र रखकर ही शब्दोच्चार किया था। क्योंकि खुले मुँह बोलना तो सावद्य भाषा है, जो भगवती सूत्र के प्रमाण से सिद्ध होकर आपको भी मान्य है। इसलिये सिद्ध हुवा कि वे श्रावकादि वस्त्र से मुँह की यतना करके निरवद्य भाषा ही बोले थे।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि क्या वह वस्त्र मुख-वस्त्रिका थी या उत्तरासंग? तो इसका सहज ही उत्तर है कि मुख-वस्त्रिका नहीं, वहाँ उत्तरासंग ही उपयुक्त होता है। क्योंकि

वहाँ सामायिकादि विशेष धार्मिक करणी करने का कथन नहीं है। इसलिए उत्तरासंग से ही मुँह की यतना करना सिद्ध होता है।

श्री ज्ञानसुन्दरजी उत्तरासंग को केवल शोभा के लिए ही रखना बताते हैं, पर यह बात भी इनकी एकान्त होने से ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ शोभा का कोई खास कारण नहीं था। हां, शोभा तो उन लोगों ने घर से प्रस्थान करते समय अवश्य की थी, पर जहाँ समवसरण दृष्टिगत हुवा कि फौरन पुष्प मालाएँ उतार कर अलग डाल दीं, जूते खोल डाले, छत्र उतार दिये, मुँह का पान थूक दिया और वस्त्र से उत्तरासंग कर दोनों हाथों को जोड़ कर समवसरण में प्रविष्ट हुए। अतएव शोभा करने का कहना अनुचित सिद्ध हुआ।

दूसरा उत्तरासंग से शोभा का वहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि जहाँ समवसरण दृष्टिगोचर हुवा कि त्वरित शोभावर्द्धक वस्तुएँ दूर कीं और फिर उत्तरासंग धारण किया। यदि उत्तरासंग से शोभा बढ़ाना ही अभीष्ट होता तो उन्हें घर से रवाना होते समय अन्य शोभावर्द्धक वस्तुओं के साथ साथ उत्तरासंग भी करना चाहिये था! पर ऐसा कथन तो है ही नहीं।

अतएव सिद्ध हुवा कि उत्तरासंग का मुँह की यत्ना में उपयोग करना प्रमाणित और शास्त्र सम्मत है।

(२) हमारे सुन्दरजी की समाज के कर्पूरविजयजी के

शिष्य पुण्यविजयजी तत् शिष्य प्रधानविजयजी लिखित और और दानमल शंकरदान नाहटा, बीकानेर द्वारा प्रकाशित "जिनराज भक्ति आदर्श" में लिखा है कि—

"देरासर के अन्दर प्रवेश करने के समय से लेकर निकलने के वक्त तक उघाड़े मुँह से बोलना ही निषिद्ध है। अष्ट पुट मुखकोश और "उत्तरासन" का किनारा इसी के लिए ही है, किन्तु इस तरफ विलकुल ध्यान नहीं दिया जाता है।"

ये दो प्रमाण ज्ञानसुन्दरजी के नेत्र खोलने में पर्याप्त होंगे, खोज करने पर और भी अनेक प्रमाण इस विषय को पुष्ट करते वाले मिल सकते हैं परन्तु इतने प्रयत्न से ही हम ज्ञानसुन्दरजी से यह अवश्य कहेंगे कि महात्मन्! व्यर्थ की कुतर्क करना छोड़िये, और सरल बुद्धि से विचारिये तो आपको यह विश्वास होगा कि उत्तरासंग रखने का मुख्य मतलब धार्मिक प्रवृत्ति में निरवद्य भाषा बोलने के उपयोग में आने का है। केवल शोभा के लिये ही नहीं। और इस प्रकार भारत रत्न, समाज के चमकते हुए सितारे श्रीमान् शतावधानीजी का कथन सत्य है। लेकिन हमें तो यह जँचता है कि सुन्दरजी की कुतर्क केवल द्वेष बुद्धियुक्त ही है। जिज्ञासा की झलक तो उसमें है ही नहीं।

(१९)

शङ्का—वायु काय के जीव आठ फरसी हैं, और भाषा के

पुद्गल चौ फरसी हैं। अतएव भाषा के स्वल्प शक्ति वाले पुद्गल द्विगुण शक्ति वाले वायुकाय के जीवों की हिंसा किस प्रकार कर सकते हैं ?

समाधान—यह भी शंका अनभिज्ञता एवम् हठाग्रह को सूचित करती है। ऐसी ही कुतर्क ज्ञानसुन्दरजी ने भी की है। ज्ञानसुन्दरजी यह भूले हुए हैं कि एकेन्द्रिय तेजस्काय के जीव किस प्रकार पञ्चेन्द्रिय को भस्म कर देते हैं। अब हम ज्ञानसुंदरजी का योग्य इलाज करने के लिए उन्हें कहते हैं कि आप अन्य कहीं नहीं भटक कर आपही के समाज के आगमोद्धारक, श्री सागरानन्दसूरिजी (जो कि मुख-वस्त्रिका के कट्टर विरोधी हैं) के निम्न वाक्य जो प्रतिकार समिति की मासिक पत्रिका 'जैन सत्य-प्रकाश' वर्ष १ अङ्क ७ में मुद्रित हो चुके हैं, जरा ध्यान पूर्वक पढ़िये, आपका अज्ञानान्धकार नाश हो जायगा:—

'एम नहिं कहेवुं के भाषा वर्गणाना पुद्गलो चउ फरसो होवा थी आठ स्पर्श वाला वाउकाय विगेरे नी विराधना केम करी शके? केम के शब्द वर्गणा ना पुद्गलो जे भाषापणे परिणमे छे ते जेओ के चउस्पर्शी छे, तोपण तेवी रीते परिणमवुं नाभी थी उठी ने, कोष्ठमां हणाई ने वर्ण स्थानों मां फरसी ने निकलता पवन द्वारा-एज वने छे, अने ए वात वोलती वखत मोढा आगल राखेला हाथ के वस्त्रना स्पर्श के चलनादि थी अनुभव सिद्ध छे, " तो तेवी रीते

भाषानी वखते निकळेलो वायु बाहर रहेला सचित वाउकायनी विराधना करे तेमां शंकाने स्थान होई शके नहीं," ए वात पण शास्त्र सिद्ध छे के शरीर मां रहेलो वायु बाहर ना वायु ने शस्त्र रूप छे × × × आदि.'

इसके सिवाय और भी प्रमाण जो पूर्वार्द्ध में दिये गये हैं, वे आपकी व ज्ञानसुंदरजी की शंका का मूलोच्छेद करने में पर्याप्त हैं।

(२०)

श्री ज्ञानसुन्दरजी ने मुख-वस्त्रिका हाथ में रखने का लाभ वताते हुए, उसकी प्रतिलेखना के समय विशुद्ध भावना होने की जो डींग मारी है, उससे हाथ में रखने या मुँह पर वाँधने का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। क्योंकि प्रतिलेखना तो मुँह पर वाँधते हुए भी करनी पड़ती है। अतएव वाँधने का कोई सवाल इसमें उत्पन्न नहीं हो सकता। तथापि इनका यह लाभ-निर्देश-कथन केवल वाणी-विलास ही है, और इनकी इस प्रति लेखन क्रिया में ऐसी भावनाएँ मुख-वस्त्रिका द्वारा हों, यह कथन वास्तव में हास्यास्पद एवं प्रमाण रहित है।

क्या मुख-वस्त्रिका अपने आप इनके हृदय में ऐसी भावनाएँ उत्पन्न कर देती है? या इन लोगों के कान में कह देती है? कदापि नहीं। इससे तो वेहतर यह है कि एक ऐसा नियम ही बना दिया जाय, कि जिससे दिन में इतनी वार या अमुक २ समय

इन भावनाओं का स्मरण अनिवार्य होता रहे। यदि प्रतिलेखना का यही उद्देश्य है तो सुन्दरजी को रजोहरण वस्त्र पात्र दण्ड आदि के प्रतिलेखन समय की भावनाएँ भी जाहिर कर देनी चाहिये।

वास्तव में यह भावनाओं का खाली बहाना मात्र ही है। क्या, ज्ञानसुन्दरजी! यह बताने का कष्ट स्वीकारेंगे कि बिना मुख-वस्त्रिका की प्रतिलेखना के ऐसी भावनाएँ हो ही नहीं सकती?

महाशय! साधु पुरुषों के तो स्वभाव से ही ऐसी भावनाएँ होती हैं। और विशेष कर ध्यान प्रतिक्रमणादि प्रसंग पर प्रकारान्तर से ऐसी भावनाएँ कही व विचारी भी जाती हैं। फिर खाली मुँहपत्ति मुँह पर नहीं बाँधने के लिए ही भावनाओं का बहाना लेना, मिथ्या नहीं तो क्या है?

सुन्दरजी कहते हैं कि मूर्तिपूजक प्रत्येक कार्य में मुँहपत्ति प्रतिलेखन द्वारा अशुभ भावनाओं को हटाकर शुभ भावना द्वारा आत्म विशुद्धि करके ही क्रिया क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। सुन्दरजी अपने इन शब्दों से भोले लोगों को भले ही भ्रम में डालदें, परन्तु जो लोग समझदार हैं और जो इनसे अधिक परिचय रखते हैं, वे अच्छी तरह से जानते हैं कि इनकी यह प्रति लेखना किस प्रकार होती है? चट मुँहपत्ति को फैलाकर इधर उधर हाथों पर फिरा, कुछ सैकण्डों में ही इस कार्य की पूर्णाहुति कर दी जाती है। ऐसी हालत में इनकी भावनाओं का तो कहना ही क्या? यहाँ तो

खाली हाथी के दाँत बताने के ही हैं।

ऐसी नित्य क्रिया द्वारा अशुद्ध भावनाओं को हटा कर शुद्ध भावना करने वाले सुन्दरजी महाराज का शब्द-माधुर्य तो देखिये, जो कमर कस कर साधु मार्गी समाज की निंदा करने में ही डटे हुए हैं! और कुलिंगी, निन्हव, उत्सूत्र भाषी, शासन भंजक, नास्तिक आदि तुच्छ शब्दों की वर्षा कर रहे हैं। क्या, शुभ भावनाओं का यही ज्वलंत प्रमाण है? क्या मुख-वस्त्रिका को मुँह से उतार कर हाथ में लेने पर सुन्दरजी ने उससे ऐसी ही भावनाएं प्राप्त की हैं?

सुन्दर महाशयजी! जिस क्रिया की भावना विशुद्धि भी बुद्धि को शुद्ध कर देती है, उस क्रिया को यत्न से करने वालों को गालियाँ देना ही तो आपकी भावना विशुद्धि प्रमाणित हो रही है।

श्रीज्ञानसुन्दरजी को यह मालूम नहीं है कि जिस समाज में बड़े २ और उच्च चारित्रवान् महात्मा हो गये हैं और वर्तमान में मौजूद हैं, जिनके उच्च चारित्र एवम् त्याग वैराग्य की प्रशंसा मूर्ति-पूजक समाज के विद्वान भी कर रहे हैं, और जिनके लिये आदर सूचक शब्दों का प्रयोग करते हैं, उन सच्चे वीर पुत्रों की निंदा करना, शासन शत्रुता है। ऐसे कृत्यों का फल इन्हें अवश्य भोगना पड़ेगा।

सुन्दरजी महाराज! अधिक क्या बताऊँ, आपकी योग्यता और मरुधर केशरीपन तो "जैन जाति निर्णय समीक्षा" जो "मुनि श्री मंगसागरजी" लिखित एवं खरतरगच्छीय जैन संघ

द्वारा प्रकाशित है, उससे बखूबी जाहिर होती है। अब कृपा कर आप अपनी भाषा पर काबू कीजिये अन्यथा इसी 'जैन जाति-निर्णय समीक्षा' के आधार पर एक 'गयवर पुराण' लिख कर आपकी सेवा में समर्पित करना पड़ेगा।

(२१)

ज्ञानसुन्दरजी महाराज ने अपनी कृति के पोथे में (जो अभी प्रकाशित हुवा है) स्थानकवासी समाज के साधुओं और लोंका-गच्छ के यतियों व तेरह पन्थियों के कल्पित फोटो देकर जो कुविकल्प किया है, वह वास्तव में इनकी हृदय कलुषितता का नग्न ताण्डव है। क्योंकि जिन शब्दों का इन्होंने प्रयोग किया है वे तो केवल कल्पित और द्वेष पूर्ण ही हैं।

इन्हें मालूम नहीं है कि गत 'अजमेर साधु सम्मेलन' में देशी परदेशी ही नहीं, पर साधुमार्गी जैन संसार के लगभग सभी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध २ विद्वान् मुनि महात्मा विद्यमान थे और वहाँ पारस्परिक प्रेम का कितना जीता जागता दृश्य उपस्थित हुआ था उसके विरुद्ध जो सुन्दरजी ने अपने उदयस्थ विष को उगलने के लिये कलम कृपाण चलाई है, वह वास्तव में इनके नाम को निरर्थक ही सिद्ध करती है। इस तरह किसी भी समाज का अनादर करना सभ्यता से बाहर है।

वैसे तो हम भी मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय के खरतर, तपा,

त्रिस्तुतिक, चतुः स्तुतिक, श्वेत वस्त्रधारी, पीताम्बरी, व्याख्यान में मुँहपत्ति बाँधने वाले और साम्वत्सरिक विरोध वाले आदिकों के चित्र बनवा कर एक से दूसरे को मिथ्यात्वी, भ्रष्टाचारी, उत्सूत्र भाषी, निन्हव आदि कहला सकते हैं और वह भी प्रमाणों सहित; पर हम इस तुच्छ प्रवृति को 'सुन्दरजी' महाशय के ही योग्य समझते हैं और इन्हीं के अर्पण करते हैं, जिससे सुन्दरजी की असुन्दरता और बढ़े व मुख उज्ज्वल हो। इसके सिवाय हम अपनी ओर से अभी कुछ भी कहना नहीं चाहते। यदि इन लोगों की यही रफ्तार रही तो हमें भी समय पाकर "शाठ्यं प्रतिशाठ्यं कुर्यात" की नीति को अपनाना पड़ेगा।

(२२)

शंका—जैनागम से किसी भी जैन साधु के मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधी रखने का उदाहरण आप दिखा सकते हैं क्या?

समाधान—महाशय! पूर्वोक्त प्रकरणों से यद्यपि आपकी शंका निर्मूल हो जाती है, तथापि विशेष समाधान के लिए और देखिये:—

षष्टमाङ्ग 'श्री ज्ञाताधर्म कथाङ्ग सूत्र' के १४ वें अध्ययन में लिखा है कि तेतली प्रधान की स्त्री अपने पति को अप्रिय हो गई, समयान्तर में कुछ क्रोध शान्त हो जाने पर पति की आज्ञा से, दान देते हुए समय विताने लगी। उस समय तेतलीपुर में आये

हुए सुव्रताजी साध्वीजी का एक संघाड़ा नगर में भिक्षा के लिए निकला और अनेक घरों में घूमते हुए तेतली प्रधान के घर में प्रवेश किया। तेतली प्रधान की उस अप्रिय पत्नी पोट्टिला ने उन साध्वीजी को आदर सहित असनादि प्रतिलाभ कर, उनसे पूछने लगी कि आप अनेक घरों में भ्रमण करती हैं, कहीं ऐसी जड़ी बूँटी या मन्त्रादि उपाय देखा हो तो बताइये कि जिसके प्रयोग से मैं पुनः अपने पति की प्रिय बनजाऊँ। इस पर उन महासतियों ने अपने दोनों कानों में दोनों हाथों की अंगुलियें लगा कर कहा कि अहो देवानु प्रिय! हमें इस प्रकार के शब्द कानों से भी सुनना नहीं कल्पता है फिर ऐसा मार्ग दिखाना तो रहा ही कहाँ?

उक्त कथन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब उन साध्वीजी ने दोनों हाथों की अंगुलियें दोनों कानों में डाल कर (कान बंद कर) जो शब्द कहे हैं, उस समय उनके मुँह पर मुख-वस्त्रिका अवश्य बँधी हुई थी ऐसा सिद्ध होता है, क्योंकि हाथ तो दोनों उनके कान के लगे हुए थे और खुले मुँह बोलना तो मूर्ति-पूजक लोग भी स्वीकार नहीं करते, फिर बिना बाँधे ऐसा हो ही कैसे सकता है?

फिर देखिये—निरयावलिका सूत्र में सोमिल तापस का अधिकार है, वह जैन धर्म से निकल कर तापस हुआ था उसने

भी काष्ट की मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधी थी। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उस समय मुख-वस्त्रिका मुँह पर ही बाँधी जाती थी, यद्यपि सोमिल जैन धर्म छोड़ चुका था और इसी से उसने जैन मान्यता के विरुद्ध वस्त्र की जगह काष्ट को मुँह पर बाँधा; पर बाँधना तो सिद्ध है ही। यदि उस समय बाँधने की पद्धति नहीं होती तो वह क्यों बाँधता ?

आचारांगादि आगमों में जहाँ २ मुख-वस्त्रिका शब्द आया है, वहाँ वहाँ मुँह पर बाँधने का वस्त्र विशेष ही अर्थ होता है, जिसे हम प्रथम सिद्ध कर आये हैं। फिर अब शंका की बात ही नहीं रह सकती।

(२३)

उपसंहार—

पूर्वोक्त प्रकरणों में मुख-वस्त्रिका के उद्देश्य तथा बाँधने और नहीं बाँधने से होने वाले हानि लाभ स्पष्ट बता दिये गये हैं, जिनका संक्षिप्त सार इस प्रकार है:—

(१) मुख-वस्त्रिका वायु-कायादि जीवों के रक्षार्थ एवम् जैन साधुओं की पहिचान के लिए ही मुँह पर धारण की जाती है।

(२) मुँह की वायु से बाहर के वायु-कायिक जीवों की हिंसा होती है।

(३) मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधने से ही दोनों उद्देश्य बराबर सध सकते हैं। नहीं बाँधने से जैन लिंग और जीव-रक्षा का पूर्ण पालन नहीं हो सकता।

(४) शास्त्रों के नाम से मुख-वस्त्रिका हाथ में रखना, प्रमाण शून्य और प्रत्यक्ष झूठ है।

(५) मुख-वस्त्रिका बाँधने में थूक से असंख्य समूर्च्छिम जीवों की उत्पत्ति बताना भी शास्त्रीय अनभिज्ञता एवं मूर्खता है और साथ ही उत्सूत्र प्ररूपणा भी।

(६) मुख-वस्त्रिका केवल मुँह पर बाँधने के लिए है न कि शरीर प्रमार्जन के लिए।

(७) खुले मुँह से बोली हुई भाषा सावद्य भाषा है। मुख-वस्त्रिका मुँह पर नहीं बाँध कर हाथ में रखने वाले अधिकांश खुले मुँह बोलते हैं और मुख-वस्त्रिका का दुरुपयोग करते हैं।

(८) ऐतिहासिक प्रमाणों से भी मुख-वस्त्रिका का मुँह पर बाँधना ही सिद्ध होता है।

(९) जीवरक्षा और जैन साधु के लिंग के लिए (आवश्यक कार्यों के सिवाय) सदैव मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधना आवश्यक है।

(१०) मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधने के विरुद्ध की गई शंकाएँ केवल कुतर्क ही हैं। सत्यांश का तो नाम मात्र भी नहीं है।

इस प्रकार हम अपने इस छोटे से निवन्ध में मुख-वस्त्रिका का मुँह पर बाँधना अनेक प्रबल एवम् अकाट्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध कर, उसके विरोध में उठाई हुई शंकाओं को निर्मूल कर चुके हैं।

यदि हमारे प्रेमी पाठक इस छोटे से निवन्ध को कम से कम एक बार भी ध्यान पूर्वक शान्त चित्त से अवलोकन करेंगे, तो उन्हें यह अवश्य विश्वास होगा कि हमारे मूर्ति-पूजक भाई और हमारी समाज से तिरस्कार पाये हुए 'ज्ञानसुन्दरजी' जो हम पर आक्षेप एवं आक्रमण कर रहे हैं, वे केवल द्वेष पोषण के लिए और साथ में शिथिलाचार को शास्त्र सम्मत सिद्ध करने के लिए ही हैं। इन्हें या तो अपने सामाजिक ग्रन्थों का ज्ञान नहीं है या ये जान बूझ कर अभिनिवेश की प्रबलता से अपने हठ को छोड़ते नहीं हैं।

परन्तु, हा मिथ्याभिमान! तुझे कुछ भी विचार नहीं होता। अरे! तुझे कम से कम इतना तो ध्यान रखना चाहिए कि मैं पतित पावन जैन धर्म पर से तो अपनी माया हटा लूँ और साधु एवं पंच महाव्रतधारी, वीर पुत्र एवं मरुधर केशरी कहे जाने वाले व्यक्तियों को तो अपनी जाल से मुक्त करूँ!

देख! तेरे ही कारण आज जैन साधु नामधारी लोग सिद्धान्त सम्मत विधान को जानते हुए भी झूठा कह रहे हैं!

देख! यदि मेरी सलाह माने, तो मैं तुझे यही कहूँगा कि अब वंद कर, वहुत हो चुका, जैन समाज पर से तूँ अपना पञ्जा हठा ले, तेरे लिए और भी वहुत से स्थान हैं। सारा संसार पड़ा है।

यदि अव भी तू नहीं समझेगा तो भविष्य में न जाने क्या होगा? सुन्दरजी जैसे सुन्दर हृदयी (?) लोगों के कारण समाज की शान्ति भयभीत है।

प्रिय पाठकवृन्द! यदि आपको मेरे इतने लेखों पर से कुछ पूछना हो, या मेरे दिये प्रमाणों में सन्देह हो तो कृपा कर मुझे लिखनें का कष्ट करें। मैं यथाशक्य अवश्य आपका समाधान करूँगा।

निबन्ध में दिये हुए प्रायः सभी प्रमाण मेरे पास संग्रहित हैं। शासन देव, शासन विरोधियों को सद्बुद्धि प्रदान करें।

मुख-वस्त्रिका की दुर्दशा

विकृति का काम वस्तु की असलियत को विगाड़ना है। विकृति अपने स्वभावानुसार किसी वस्तु को असली रूप में नहीं रहने देती। जिस प्रकार चैतन्य जड़ के प्रभाव से अपने मौलिक स्वरूप को भूल कर विविध अवस्थाओं का अनुभव करता है, उसी प्रकार अन्य वस्तुएँ भी विकार वल से मौलिक अवस्था को छोड़ कर विविध रूपों में परिवर्तित हो जाती हैं। मुख-वस्त्रिका के विपय में

भी ऐसा ही हुआ। मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधने का इतिहास नया नहीं किन्तु जैन शासन के साथ ही सम्बन्धित है। लेकिन इस पञ्चम काल में जब से जैन शासन को अत्यधिक विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ा, तब से धीरे२ इसमें भी परिवर्तन होने लगा। पहिले जैन समाज के सभी साधु मुनिराज खान-पानादि कारणों के अलावा इसे सदैव मुख पर बँधी रखते थे, फिर शिथिलता होते२ अमुक२ प्रसङ्ग पर ही बाँधना स्वीकार कर कुछ समय के लिये हाथ में रखने लगे। दिन रात में कई बार (स्वाध्याय, प्रतिलेखन, प्रमार्जन, वाचना, पृच्छा, परावर्त्तना, व्याख्यान, पठन-पाठन आदि अनेक कार्यों में) मुँह पर बाँधी जाकर बाकी थोड़े समय के लिए हाथ में रखना शुरू हुआ। फिर ज्यों ज्यों शिथिलता बढ़ती गई त्यों त्यों मुख-वस्त्रिका का स्थान मुँह से हटने लगा। चलते२ यहाँ तक हुआ कि मूर्ति-पूजक समाज के साधु वर्ग में विक्रमीय बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक व्याख्यान प्रसंग पर ही मुख-वस्त्रिका मुँह पर रह कर बाकी सब समय के लिए नीचे उतर गई। और अब तो इस समाज का एक भाग मुख-वस्त्रिका को मुँह पर बाँधना ही पाप समझने लग गया।

इस प्रकार वर्तमान काल में मुख-वस्त्रिका को मूर्ति-पूजक जैन समाज के एक बड़े भाग द्वारा सर्वथा मुँह से अलग रहना पड़ा। किन्तु इसका श्रेय किन महानुभावों को है? पाठकों को यह जान

कर आश्चर्य होगा कि इस प्रवृति का सर्व श्रेय हमारी साधुमार्गी समाज से निकल कर मूर्ति-पूजक समाज में गए हुए महानुभावों को ही है। मुख-वस्त्रिका की वर्तमान दुर्दशा उन्हीं लोगों ने की है जो पहिले कुछ वर्षों तक निरन्तर बाँधा करते थे। उन महानुभावों के शुभ नाम निम्न अवतरणों में देखिये :—

(१) "शेठजी आपको सारी उवर[1] में कोई साधु कर्जा[2] विषे मुखपति घाले बिना कथा करता देख्या? तिवारे शेठजी बोल्या मैंने तो कोई नहीं देख्या, मेरा पिता सितेर वरस का था ते पिण कहे था मैं नहीं देख्या कोई साधु मुखपत्ति कना वीच घाले बिना कथा करता देख्या नहीं। एक बूटेराय जब का आया है तब का देखणे में आया है। तथा मूलचंद वृद्धिचंद पिण नहीं बाँधते।"

(मुंहपत्ति विषें चर्चा, ले० बूटेरायजी,
सन् १८७८ पृ० ६२ पं० २०)

(२) "व्याख्यानादि मां मुहपत्ति बाँधवी ने अवश्य शास्त्राधारे अमो देखाड़वा तइयार छीए अने क्यां सुधी कई व्यक्ति थी छुटी ते पण देखाड़वा अमो तइयार छीए।" —पं० कल्याणविजयजी

(मुम्बई समाचार दैनिक ता० ८-८-३४ पृ० १५
'जइन समाज सावधान' शीर्षक से)

(३) "आ प्रथा ए कांइ आजकल शरू करेल प्रथा नथी,

---

१ उम्र, आयु। २ कान।

परंतु पूर्वना श्रीगणधर महाराजादिक सुविहित, पूर्वधर महापुरुषो तरफ थी परंपरा मां मळेल वारसो छे, तेमज श्री बूटेरायजी महाराज ना पहेलां वधाना पुर्वजो बांधता हता ए निःसंशय विना छे।

श्री बूटेरायजी महाराज ना परिवार मां पण श्री नीतिविजयजी महाराजे वांधेल छे, बहुश्रुत पंन्यास श्री गंभीरविजयजी महाराजे पण अमदावाद मां लुहार नी पोळना उपाश्रये व्याख्यान समये वांधेल हती, एटलुंज नहीं पण ए प्रथा सत्य अने वास्तविक छे तेम तेओ श्रीए लखेल पण छे, बहुश्रुत सुरीश्वरोए पण परंपरा थी वांधवानुं स्वीकार्यु छे, तेमना हस्ताक्षरो पण जनता नी जाणमाटे प्रसिद्ध थयेला छे, प्रसिद्ध सुरीश्वरोए पण कहेलुं के गुरु महाराज न होता वांधता एटले अमे नथी वांधता पण वांधवाना रिवाज ने खोटो नथी गणता, कर्मनुं सारूं ज्ञान धरावनार प्रसिद्ध उपाध्यायजीए पण अमारा साधुनी साथे वात चीत दरम्यान कहेल छे के मुँहपत्ती वाँधवा विषेना पाठो तमारा करतां पण अमारा वांचवा मां वधारे आवेल छे ।

प्रसिद्ध पंन्यासजी ए पण अमारा एक साधु साथे वात चीत दरम्यान कहेल छे के मुँहपत्ती वांधवानुं खँडन करनार विराधक छे।"

—ले० विजय हर्षसूरिजी

(मुंबई समाचार दैनिक ता० ५-१२-३४ पृ० ६, मुँहपत्ती नी चर्चा लेखांक २ से)

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो गया कि मूर्तिपूजक समाज के सभी साधु व्याख्यानादि प्रसंग पर मुख-वस्त्रिका मुँह पर बाँधते थे, किन्तु जब से बूटेरायजी इनकी समाज में गये तब से मुख-वस्त्रिका का मुँह से सर्वथा असहयोग हुवा, और असहयोगी हुए बूटेरायजी आदि। ये वेही बूटेरायजी थे जो साधुमार्गी जैन समाज (पंजाब सम्प्रदाय) से निकाले गये थे। इनके सिवाय अन्य आत्मारामजी आदि साधुओं ने भी स्थानकवासी समाज से निकल कर मुख-वस्त्रिका की दुर्दशा करने में बहुत परिश्रम किया। जब तक यह प्रथा चलेगी, फैलेगी और इसके द्वारा आगम-आज्ञा, मुनि-धर्म तथा जीवों की विराधना होगी इसका अधिक लाभ (?) उक्त महात्माओं के हिस्से में रहेगा। कदाचित ऐसा कोई पाप नहीं होगा, जिसका फ़ल उल्टी श्रद्धान के फैलाने से बढ़कर हो, क्योंकि इससे जनता उन्मार्ग गामी होकर क्लेश आदि से अपना अहित कर लेती है।

मुख-वस्त्रिका की इस तरह दुर्दशा होने के मुख्यतः दो कारण हैं एक तो शिथिलता, दूसरा स्थानकवासी समाज पर का द्वेष। इन्हीं दो मुख्य कारणों से इसकी असलियत बिगड़ी है और येही बातें मुख-वस्त्रिका की दुर्दशा के कारण हैं।

जो सम्यग् श्रद्धान वाले क्रियावादी सज्जन हैं, वे अपने द्वारा इस उपयोगी और हितकारी क्रिया का लोप कभी नहीं करते, बल्कि जहाँ तक बन सके इसका प्रचार कर धर्म सेवा करते हैं।

परिशिष्ट १

[अभिप्राय]

(१)

Uvasaga-dasao Page 51 Note 144.

Text--Muhapatti; Sanskrit-Mukhapatri lit; a leaf for the mouth; a small piece of cloth, suspended over the mouth to protect it against the entrance of any living thing; see 'Bhagwati' P. 195 where Muhamottiam is probably an error for Muhapattiyam.

(उपरोक्त अंग्रेजी का हिन्दी अनुवाद)

उवासग दसाओ पत्र ५१ नोट १४४

मूल मुँहपति संस्कृत मुखपत्री शब्दार्थ 'मुँह के लिये एक पट्टी' 'एक छोटा कपड़े का टुकड़ा' मुँह के अन्दर किसी जानदार चीज का प्रवेश रोकने के लिये मुँह पर लटकाया जाता है. देखो भग० पत्र १९५ जहाँ मुहमोत्तियम् शायद गलती है मुहपत्तियम के लिये।

[अभिप्राय]

(२)

(यह निम्न अभिप्राय एक रसायन शास्त्री का है जो भारत में सर्वश्रेष्ट रसायनिक हैं।)

The Jain Sthanakwasi Sadhu is noted for his asceticism and for the riged observance of the vow of non-violence in thought, speech and deed.

The one Constant endeavour of his life is to follow this vow in all its varied aspects. Even his dress, which may appear somewhat peculiar, has been evolved so as to help him in his object. The "Munhpatti" i.e. small piece of cloth which he wears on his mouth at all times, except when he is taking his meals or doing such things, is probably the most peculiar feature of his dress.

It has for him the moral value in that it serves as a constant reminder that whatever comes out from the mouth underneath it must be pure, truthful and honest.

A part from this moral significance the "Munhpatti" prevents injury to the microscopic organisms floating in the air, which would be caused by the just and wartruth of the breath if it were unchecked by the "Munhpatti" over the mouth. This may seem as carrying the practice of non-violence to fantastic heights but with this one must remember that the one mission of the Sadhu's life is to practice non-violence as rigidly and completely as is humanly possible.

Leaving aside these spiritual values, the piece of cloth has also some obvious hygienic advantages. A Surgeon covers his mouth when performing an operation to protect his patient against any infection that may be carried with his breath and also to protect

himself against any infection being carried to his throat. (Often those who prepare food do the same and for the same reason.) The "Munhpatti" in a measure varying under circumstances, safeguards the user and those surrounding him from possible infection carried by the breath.

But the essential significance is spiritual and whatever the hygienic value, is only incidental.

Daulat Singh Kothari
M. Sc., Ph. D. (Cantal)
Head of the Physics Dept.,
University, DELHI.

(उपरोक्त अंग्रेजी अभिप्राय का हिन्दी अनुवाद)

जैन स्थानकवासी साधु अपनी तपस्या और अहिंसा के व्रत को मन, वचन और कर्म से कड़ी तौर पर पालन करने के लिए प्रसिद्ध हैं।

उनके जीवन का एक मात्र दृढ़ उद्योग इस व्रत को उसके विभिन्न रूपों में पालन करना है। यहाँ तक कि उनका वेष भी जो कुछ विचित्र सा प्रतीत हो सकता है उनके उद्देश्य को पूरा करने में सहायता प्रदान करने वाला बन गया है। "मुँहपत्ति" अर्थात् कपड़े का छोटा टुकड़ा, जिसको वे भोजन अथवा ऐसा ही कोई कार्य करने के अतिरिक्त, हर समय मुँह पर बाँधे रखते हैं, उनके वेष की सब से अधिक विचित्रता है। उनके लिए इसका नैतिक मुख्य

यह है कि यह हर वक्त उनको स्मरण कराती रहती है कि उसके नीचे से, मुँह से जो शब्द निकलें वे शुद्ध, सत्य और निष्कपट हों।

इस नैतिक अभिप्राय के अतिरिक्त यह "मुँहपत्ति" वायु में उड़ने वाले सूक्ष्मदर्शी जीवों को उस हानि से बचाती है कि जो यदि "मुँहपत्ति" नहीं होती तो श्वास के झोंके और उसकी उष्णता से हो जाती। ऐसा करना अहिंसा के अभ्यास को विचार तरङ्गों में उड़ा लेना प्रतीत हो सकता है परन्तु स्मरण रहे कि साधु के जीवन का एक मात्र उद्देश्य अहिंसा व्रत को जहाँ तक मानव प्रयास में सम्भव है कड़ी तौर पर एवं पूर्णता से पालन करना ही है।

इन आध्यात्मिक लाभों को छोड़ कर, इस कपड़े के टुकड़े से कुछ स्वास्थ्य सम्बन्धी लाभ भी हैं। जैसे एक सर्जन जब चीरा फाड़ी का काम करता है उस समय वह अपना मुँह ढ़क लेता है ताकि उसके स्वास से रोगी पर कोई जीव असर नहीं करे तथा रोगी के रोगिष्ट कीट भी उसके गले में प्रवेश न कर सकें। (भोजन बनाने वाले भी प्रायः इन्हीं कारणों से ऐसा ही किया करते हैं।) संयोगानुकूल, विभिन्न नामवाली "मुँहपत्ति" उसको बाँधने वाले तथा उसके निकटस्थ लोगों की श्वास से लग जाने वाले रोगों से रक्षा करती है।

परन्तु इसका मुख्य अभिप्राय आध्यात्मिक ही है और जो स्वास्थ्य सम्बन्धी लाभ हैं, वे केवल आकस्मिक हैं।

[अभिप्राय]

(३)

श्री रत्नविजयजी गणि 'मुँहपत्ति चर्चासार' पृष्ठ ७६ में अन्तिम प्रार्थना करते हुए लिखते हैं कि—

" आ प्रकारे मुहपत्ति वंधन ने लगता प्रसंगों विषेना पूर्वाचार्यो कृत जुदा जुदा प्राचीन शास्त्र ग्रन्थोना पाठोनो मळी आवेलो संग्रह पूर्ण थाय छे, तेथी मुहपत्ति वंधन ए जैन शास्त्र विहित प्रवृत्ति छे, एम निर्विवाद सिद्ध थाय छे, ते स्वलिंग छे, ते वांधवामां न आवे तो प्रायश्चित आवे छे. "

पुनः पृष्ठ ९१ की अन्तिम पंक्ति में लिखते हैं कि—

मुहपत्तिनुं अवंधन निवारित प्रवृति छे, अने मुहपत्ति वंधन शास्त्र पाठोथी सावित परंपरानी अने अनिवारित प्रवृत्ति छे, एटले के शास्त्र सिद्ध अने संघ—सम्मत, परंपरा सिद्ध एम वणेय रीते तीर्थ रूप प्रवृत्ति छे ।

[अभिप्राय]

(४)

सम्मति पत्र—

प्रसिद्ध गणिवर्य—नाभा शास्त्रार्थ विजेता—श्री उदयचंद्रजी महाराज साहब की सम्मति—

आज यह 'मुख-वस्त्रिका-सिद्धि' निबन्ध भाई रतनलालजी डोशी ने पढ़कर सुनाया, वड़ा आनन्द हुवा। लेखक ने वड़ी होंशियारी से मुख-वस्त्रिका मुँह पर वाँधना सप्रमाण सिद्ध किया है। हमारा अभिप्राय है कि इससे समाज का वड़ा लाभ होगा।

समस्त जैन समाज को चाहिए कि इस पुस्तक को ध्यान पूर्वक पठन और मनन कर लेखक के परिश्रम को सफल करें।

[अभिप्राय]

(४)

भारत रत्न शतावधानी प्रसिद्ध विद्वान पण्डित मुनिराज श्री रत्नचन्द्रजी महाराज साहब की सम्मति—

भाई रतनलालजी डोशीए मुख-वस्त्रिका सिद्धि नामनो निवंध अथ थी इति सुधी स्वमुखे वांची संभलाव्यो लेखकनी शोधक वृत्ति प्रशंसा पात्र छे जेओ मुख-वस्त्रिका वांधवानुं स्वीकारता नथी, तेओनां वचनोनुं अवतरण आपी ने मुख-वस्त्रिका वांधवानुं सप्रमाण समर्थन कर्युं छे, ए लेखकनी खूबी छे.

आवा ऊगता लेखकने ए दिशामां उत्साह प्रेरक उत्तेजन मले तो ते आथी पण वधारे संगीन साहित्यनी सेवा वजावी शके, एवी संभावना छे जिज्ञासु वर्ग लेखकना प्रयासनी कदर करवा नहिं चूके एवी आशा छे सुज्ञेषु किं वहुना.

परिशिष्ट—२

(१) प्राचीन चित्र—

" प्रदर्शन मां व्याख्यान प्रसंग ना चित्रों मां मुँहपत्ती बंधन वाला चित्रो जोवा मां न आव्या होय तेथी करीने समस्त भारत-वर्ष ना पिक्चर ग्रन्थों मां तेवा चित्रो नथीज एम मानवुं ए मुर्खा-इज छे, अनेक स्थानों मां तेवा प्राचीन चित्रो छे, अने समय आव्ये प्रसिद्ध पण थशेज. "

—श्री विजय हर्षसूरिजी

(मुम्बई समाचार दैनिक ता० २७-८-३४
पृ० ७ मुहपत्तिनी चर्चा शीर्षक से)

(२) हाथ में रखने से कार्य सिद्धि नहीं होती—

" हाथ मां राखी ने वांचनार नी ते विषे केटली उपयोग शून्यता छे, ते विषेनी भूल कबूल कर्याना दृष्टांतो मोजूद छे, अने श्रोताओ ने पण सुविदित थयेल छे के हाथमां राखीने वांचनारनी उपयोग शून्यता थाय छे. " × × ×

(३) खुले मुँह बोला हुवा वचन पापकारी है—

" आगल चालता तेओ लखे छे के श्री भगवतीजी ना वाक्य थी बोलतां मुख ढांकवुं एटलुंज नक्की छे, जो तेथी सावद्य वचन पणुं टालवा बांधवानी होय तो बधी वखत बोलतां बांधवी पडशे"

आना प्रत्युत्तर मा जणाववानुं के "श्री भगवती सूत्र, श्री महानिशीथ सूत्र आदि ना शास्त्र प्रमाण जोइए तो बेशक उघाड़े मोंढे उच्चारायेलुं वचन सावद्य वचन—पापवालुं वचन—छे." × × ×

"मुखने अडाडीनेज राखी शकाय, अने वास्तविक यतना जलवाय 'परंतु मुखथी दूर राखवा थी पूर्ण यतना जलवातीज नथी." × × ×

(४) मुख-वस्त्रिका मुँह पर अवश्य बांधना चाहिये—

"जे मउन रहेनार पण बांधे छे तो बोलनारे तो खास करीने मुँहपत्ति बांधवीज जोइए, मउन रहेनार श्रावक ने तो ज्ञानआशातना नुं कारण नथी, मुखमां कांई पड़वानुं संभव नथी तेम छतां पण जो मुख-कोश बांधे छे तो मुनिओ ने तो वांचन ने अंगे ज्ञान नी आशातना टालवी होय छे, तथा वायुकायादिक जीवोनी रक्षा करवानी होय छे, ते कारण माटे श्रावक थी पण साधुनी जवाबदारी विशेष वधे छे."

(५) वर्णनात्मक उल्लेख की शङ्का का समाधान—

"वली घणां शास्त्रमां केटलेक स्थाने दांतनी कांति नुं वर्णन आवे छे तेपर थी मुंहपत्ति नहीं बांधता होय तेम कहे छे, परंतु ते वर्णन तो केवल वस्तु स्वरूप नी दृष्टिए कराएल छे अने तेथी मुंहपत्ति बांधवाना अभाव ने सिद्ध करनार नथी, केम के तेम

करवा जतां तेओ उघाड़े मुखे बोलता हता तेम सिद्ध थइ जशे."

—नं० २ से ५ तक ले० विजय हर्षसूरिजी

मुहपत्तिनी चर्चा

('मुम्बई समाचार' दैनिक ता० ५-१२-३४ पृष्ठ ६)

तथा

('जैन भावनगर' ता० १६-१२-३४ पृष्ठ ११५१)

(६) मुखवस्त्रिका गीली होने की शङ्का का निराकरण—

"वली घणी वखते कहेवा मां आवेल छे के बांधनार नी मुंहपत्ति भीनो थाय छे तो ते विषे लखवानुं के हाथ मां रखाती होय तेमज मुंहपत्ति ना अभावे ज्ञान नी आशातना तथा जीव विराधना तेओ टाली शकता नहीं होय तेम आपना लखाण परथीज जणाय छे × × × हाथ मां राखनार जो बरोबर उपयोग पूर्वक वरते तो तेणे मुखने अडाडी नेज राखवी जोइए अने तेथी तो तेनी वधारे भीनी थायज, पण जेओनी भीनी न थती होय तेओ मुख थी दूर राखता हशे, अने तेथी उपयोग बराबर जळवातो नहींज होय तेम जाणी शकाय छे."

—मुंहपत्तिनी चर्चा, ले० विजय हर्षसूरिजी

(मुम्बई समाचार दैनिक ता० १२-१२-३४ पृष्ठ १२)

(७) आठ प्रत वाली मुख-वस्त्रिका बांधना चाहिये—

" तेमज आपना तरफ थी आवश्यक बालावबोध ना पाठना

आधारे आठपडो मुंहपत्ति बांधवानुं कहेवा मां आवे छे एटले नहीं बांधवानो पाठ मळवो शक्य नथी, कारण के तमारा अने अमारा शास्त्रो एकज छे, अमें बांधवानुं स्वीकार्युं छे, त्यारे तमों बांधवाना पाठा आपो छो अने ते पाठोज तमारे माटेपण बांधवानुं विधान करे छे. ”

(जैन ता० ६-१-३५ पृष्ठ २०)

सूरिसागरजी ने जवाब

लेखक—
श्रीमान् शंकर मुनिजी
महाराज

सचित्र मुख-वस्त्रिका-निर्णय

प्रकाशक—
श्रीमान् सेठ शिवचन्दजी
नेमीचन्दजी कोटेचा जैन
शिवपुरी

प्रकाशकः-
श्रीमान् सेठ शिवचन्दजी नेमीचन्दजी कोटेचा जैन
शिवपुरी

मुद्रक--जगदीशचन्द्र शर्मा "विशारद"
मैनेजर--श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम.



श्रीमान् सेठ शिवचंदजी साहेब,
शिवपुरी.

Lakshmi Art, Bombay, 8.

समर्पण

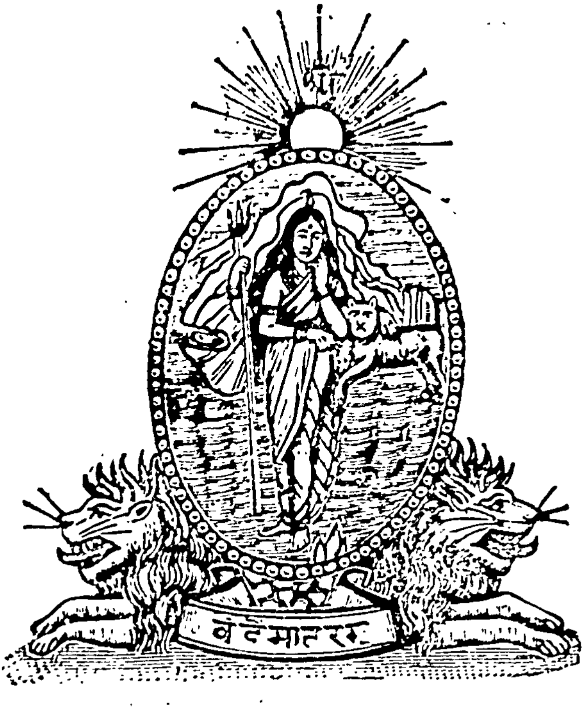
श्रीमान् !

परम पवित्र पूज्यपाद! गुरुवर्य्य! जगत वल्लभ! जैन धर्म के सुप्रसिद्ध वक्ता मुनि श्री १००८ श्री "चौथमलजी" महाराज के कृपा कटाक्ष से मुझे सम्यक् ज्ञान दर्शन चारित्र प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अतएव गुरु महाराज के चारु पाद पद्म में यह सामान्य सी भेट समर्पण करता हूं। मुझे आशा है कि श्रीमान् इसे अवश्य अपनायंगे, अथवा मेरे मनो बल: साहस को बढ़ा कर श्री जिन शासन की सेवा करने में चेष्टित कर कृत कृत्य करेंगे, और मुझे निजात्म स्वरूप को चिंतवन करने का शुभ आशीर्वाद प्रदान करेंगे.

भवदीय—

पाद-पद्मयो रनुचर

शङ्कर मुनि.


वंदे मातरम्

भूमिका

प्रिय पाठकों ! आज कल हमारे जैन समाज के कतिपय सज्जन-गण इस प्रकार कथन करते हैं, कि जैन मुनियों के मुख पर-वस्त्रिका बांधने का रिवाज यह आधुनिक समय से चला है। इस प्रकार हमारे उन बंधुओंका कथन करना सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि मुख पर मुख-वस्त्रिका बांधने का रिवाज आधुनिक समय से नहीं, किन्तु सनातन से चला आता है। हां हाथ में मुख-वस्त्रिका धारण करने वाले रिवाज के लिये आधुनिक समय से चला ऐसा कथन करें, तो उनका कथन अक्षरशःसत्य हो सकता है ! क्योंकि यह रिवाज द्वादश वर्षीय दुष्काल के जमाने में क्षुधा पीड़ित कंगले लोक आहारादि छिनने लग पड़े, तब इस दुसह्य-क्षुधा परिषह से पीड़ित होते हुए कतिपय उदरार्थी, मुनि नामधारियों ने अर्हत प्रभू प्रदर्शित भेष में अतीव कष्ट समझ कर मुख से मुख-वस्त्रिका खोल के हाथ में धारण की। वहीं से यह नूतन (नवीन) रिवाज प्रादुर्भूत हुआ, आगे से नहीं ! यदि इसके लिये आधुनिक कथन करते तो हमारे भाइयों का कहना युक्ति युक्त हो सकता। किन्तु शास्त्र विहित मुख-वस्त्रिका मुख पर बांधने की सच्ची सनातनीय जैन प्रणाली को आधुनिक, समय से प्रादुर्भूत होने वाली नवीन प्रणाली को प्राचीन दिखलाना यह उन महानुभावों की अनभिज्ञता नहीं तो और क्या ? जो साक्षरी पंडित हैं वे तो मुख पर बांधने वाली ही प्रणाली को प्राचीन समझते हैं। और शास्त्रोक्त विधि विहित मुख-वस्त्रिका को मुख पर बांध के धर्मानुष्ठानादि क्रियाओं का पालनभी करते हैं। नवीन प्रणाली के प्रचारकों में इतना तो अवश्य देखने में आता हैं,

कि व्याख्यानादि देते समय, अवश्य मुख-वस्त्रिका मुख पर वांध के देते हैं। यह एक सदा सर्वदा मुख-वस्त्रिका मुख पर वांधी जाने वाली प्राचीन प्रणाली की सबूती के लिये ही हमारे मूर्त्ति पूजक समाज के नेताओं ने उस का कुछ अंश में अनुकरण करते हुए अद्यावधि पर्यन्त चले आ रहे हैं। इस प्राचीन प्रणाली को संयम धर्म का साधन समझ के ही पन्यास श्री धर्मविजयजी, विजयनीतिजीसूरि, विजयसिद्धिजी सूरि आदि महानुभाव व्याख्यान देते समय मुखपत्ती मुख पर वांध के देते थे। खरतर गच्छी कृपाचन्द्रसूरि को मुख पर मुख-वस्त्रिका वांधकर व्याख्यान देते सं०१९७८के साल रतलाम के चातुर्मास में मैंने स्वयं आंख से देखा है। इसी प्रकार अंचलगच्छ वासी यति लोग व्याख्यान देते समय मुख पर मुख-वस्त्रिका वांधते हैं। तथा पापचलगच्छ वासी श्रावक लोक प्रतिक्रमण करते समय मुख-वस्त्रिका मुख पर वांध के करते हैं। इस पर से हमारे कतिपय जैन बंधु, जो कि प्राचीन प्रणाली को आधुनिक वतला रहे हैं। वे अव विचार कर सकते हैं, कि यदि मुख-वस्त्रिका वांधने की प्रणाली अर्वाचीन होती तो, उक्त महानुभाव कुछ समय के लिये भी कदापि अनुकरण नहीं करते। किन्तु प्राचीन होने ही के कारण अद्यावधि पर्यन्त इसका अनुकरण करते हुए चले आ रहे हैं। पूर्व काल में सबी गच्छवासी यति लोग व्याख्यान देते तव मुख पर मुख-वस्त्रिका वांध के देते थे। इस विषय में 'सत्यार्थप्रकाश' के रचयिता स्वामी दयानन्दजी द्वादशसमूल्लास की पृ० ४८१ पं० ११ पर लिखते हैं, कि "जती आदि भी जब पुस्तक वांचते हैं तभी मुख पर पट्टी वांधते हैं" इस स्वामीजी के प्रमाण से निर्विवाद सिद्ध है, कि पूर्व काल में

के समय मुख पे मुख-वस्त्रिका वांध के व्याख्यान

देते थे। विक्रमीय सं० १६३१-३२ तक तो सभी गच्छवासी यति संवेगी लोग व्याख्यान देते, तब मुख-वस्त्रिका मुख पे वान्ध कर देते थे, वर्तमान काल में भी कतिपय गच्छवासी यति, संवेगी मुखपत्ती मुखपे वांध के देते हैं। उनमें से कितनेक के नाम तो ऊपर लिख चुके हैं । पाठकों ! आपको एक यह बात भी यहां पर समझा देना समीचीन समझता हूँ, कि सतत मुख-वस्त्रिका मुख पै वांधने वालों का, और व्याख्यानादि देते समय वांधने वालों इन दोनों का मन्तव्य निसंन्देह वायु कायिक और तदाश्रित त्रसजीवों की रक्षा करने का है। न की और कोई, दोनों ने इस विधि को संयम का मुख्य साधन माना है । और दोनों मुख पर वांधना आगमानुकुल मानते हैं । तो फिर इस प्रश्न पर वाद विवाद करना, कि व्याखनादि देते वक्त कुछ समय के लिये वांधना समीचीन और सतत वांधना असमीचीन, यह सर्वथा व्यर्थ है । क्योंकि संयम के साधनों का अल्प या अधिक समय तक उपयोग किया जाय तो कदापि अनुचित नहीं है। जिनागमानूकुल उचित क्रियाओं का उचित ही फल होताहै अनुचित फल कदापि नहीं हो सकता । जिस व्यक्ति ने थोड़ी देरके लिये मुखपत्ती मुख पै वान्ध के धर्म क्रियाएं की उस को थोडा लाभ और जिसने विशद काल के लिये वान्ध के यत्नाचार का पालन किया तो उसको विशेष लाभ की प्राप्ति होती है। कुछ समय के लिये वांधना उचित मानते हैं तो सतत वांधने वालों को भी किसी हालत में आप बुरा नहीं कह सकते। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या ? किन्तु वड़े २ पढे लिखे प्रमाद के चक्कर में गिर जाते हैं। इसी लिये प्रमाद के प्रवेश करने के फाटक को ही सतत वन्द कर रखने में आप को हानि ही क्या है । जैन

धर्म के सभी सम्प्रदाय में इस विषय पर तो किसी भी व्यक्ति का मत भेद नहीं है, कि प्रमाद (प्रमत्तयोग) के कारण ही हिंसा होती है। और जहां २ हिंसा है, वहां २ पाप कर्मों का वन्ध और संसार वृद्धि भी है पाप वृद्धि और संसार भ्रमण का खास कारण प्रमत्तयोग ही को मानागया है। इसी कारण को मुख्यता में ग्रहण कर श्रीवीर परमात्माने मुमुक्षु मुनियों को, इस प्रमाद पिशाच से वचाने के लिये ही मुख-वस्त्रिका की प्रतिपादना की, वह भी प्रतिपादना मुख्य एक अंग को ग्रहण कर की कि, उस अङ्ग के व्यातिरिक्त अन्य अंग पर धारण कर ही नहीं सकते। मुख पर वान्धने की आज्ञा भी उसी मुखपत्ती शब्द के अन्तर गत रही हुई है। कृपया निम्न लिखित मुखपत्ती शब्द की परिभाषा को ध्यान देकर पढ़िये ! "मुखं पोतते वन्धते सततं अनेन सा मुखपोतिका" अर्थात् जिस करके सतत (निरन्तर) मुख को वान्धा जाए, उसे मुखपोतिका कहते हैं। सतत शब्द ग्रहण करने का खास कारण यह है, कि मुनि को आहारादि याचना करते समय व शिष्यादिकों को सूत्रादि पठन पाठन करने आदि के लिये आज्ञा देने को हर वक्त वोलना पड़ता है। एवं शिष्यों को वाचनादि देने का तथा श्रावक, श्राविकाओं को त्याग, नियम करवाने अथवा मंगलिक उपदेश आदेश व्याख्यानादि देने का काम पड़ता है। उस समय मुख की यत्ना की तरफ ध्यान रखें या, मंगलिक आदि सुनाने की तरफ एक समय में दोनों ओर उपयोग रह सकता नहीं। परमात्माने एक समय में एक ही उपयोग फरमाया है। जिस समय मुँहकी यत्ना की तरफ ध्यान रहेगा, उस समय व्याख्यानादि की ओर ध्यान " रहेगा और जव व्याख्यानादि की तरफ ख़याल रहेगा उस

समय मुँह की यत्ना की तरफ ध्यान नहीं रहेगा। इसी ही कारण जैन मुनि मुख-वस्त्रिका मुख पर सतत बांधे रहते हैं। नवीन प्रणाली के चलाने वालों ने भी एक समय में दो उपयोग नहीं,इसी वीर वाक्य पर ध्यान दे कर व्याख्यानादि देते समय मुखपत्ती मुख पर बान्ध कर देना,ऐसा प्रत्येक स्थल पर अपने रचित ग्रन्थों, टीका, भाष्य, निर्युक्ति में उल्लेख किया हैं। जो लोग अपने पूर्वाचार्यों की उक्त आज्ञा का पालन नहीं करते हुए मुखपत्ती को हाथ में ही रख कर व्याख्यानादि देते हैं। उस समय मुखपत्ती वाला उन का हाथ कभी विलास भर, कभी हाथ भर दूर चला जाता है। जब व्याख्याता दोनों हाथों को फैलाता है, उस समय मुखपत्ती मुँह से कितनी दूर पर चली जाती है। जिस समय मुखपत्ती वाले हाथ को उपदेश दाता नीचे की ओर ले जाता है। उस समय कटि से नीचे घुटने के पास मुखपत्ती चली जाती है। और उपदेशक जी हृदय को दया विहीन कर विना मुखपत्ती के खुल्ले मुँह से बेखटके बोलते हुए चले जाते हैं। भवभीरू दयार्द्र-हृदयी पुरुषों के जरिये किसी प्राणी का यत्किंचित भी दिल दुःख जाता है तो वे उसका सारा दिन भर पश्चाताप करते रहते है। किन्तु, हमारे नवीन प्रणाली के प्रचारक मुनि नामधारी अहिंसा के उपासकों के हृदय में उन एक वक्त खुले मुँह बोलने पर मरजाने वाले अपाहिज असंख्य वायु-कायिक जीवों पर तनिक भी दया प्राप्त नहीं होती। अफसोस ? अफसोस !!

जिनागम विहित प्राचीन प्रणाली की उत्थापना कर हाथ में मुखपत्ती धारण करने की नवीन प्रणाली के जन्म दाताओं को नवीन योजना निकालते समय तो तनिक भी विचार नहीं हुवा, किन्तु अब उन को विचार उत्पन्न होने लगा कि उपदेश देते वक्त मुँह की यत्ना की ओर ध्यान रखें कि देशना की तरफ,

क्योंकि एक ही समय में दोनों तरफ उपयोग रह सकता नहीं ! अब क्या करना चाहिये, मुखपत्ती में धागा लगा कर मुंह पर बान्धना तो निषेध कर चुके हैं और उसी विधि को पुनः अंगी कार करेंगे तो जो धागा लगाकर मुखपर बांधने वाले हैं वे अपनी बड़ी भारी भद्द उड़ावेंगे। ऐसा विचार कर, एक और नवीन योजना उन लोगोंने यह निकाली कि अष्ट पड़ वाली मुंहपत्ती के ऊपर के दोनों कोने पर कपडे की कसें लगाकर, नाथ बावों की तरह दोनों कानों को बीच में से फड़वा कर उन छेद्रों में से कसें निकाल के कानों के पीछे गांठ लगाकर बांधने लगे। यह प्रणाली करीब विक्रमीय सं १६२३-२४ तक तो चलती रही, किन्तु कान फड़वाने में बहुत कष्ट होने के कारण यह प्रणाली थोड़े ही काल में प्रलय हो गई।

कुछ दिनों तक कान के नीचे की लो जो गृहवास की छेदन की हुई उस में नीम आदि की सीकें डाल के छेद्रों को कसे डालने योग बनाकर उन के अन्दर से कसे निकाल के कान पीछे गांठ लगाकर बान्धने लगे। यह रिवाज भी विशेष काल नहीं चला। थोड़े ही काल में सूर्य की भांति अस्त होगया। बाद कुछ दिनों तक दोनों कसें कानों के लपेट कर मुखपत्ती मुख पर बांधने लगे। कतिपय यति लोग कसें को कान ऊपर से गुद्दी के पीछे लेजाकर गांठ लगा के बांधने लगे। कुछ यति और सम्वेगी लोक मुखपत्ती को त्रिकोनी कर नाक और मुँह दोनों के ऊपर से लेकर गुद्दी पीछे दोनों कोने को लेजाकर गांठ लगा कर बांधने लगे। मुखपत्ती की ऐसी परिस्थिति में ही निम्न लिखित गाथा का प्रतिपादन हुवा हो ऐसा अनुमान प्रमान से ज्ञात होताहै।

उक्तंच—" सम्पाइम रयरेणु, परमज्झण ठावयइ मुहपोतिं ॥
नासं मुहं च बन्धइ, तीएव सहिं पमज्झंतो ॥ "

श्रीप्रकर रत्नाकर भा० २ पं० १४२

इसी प्रकार येही गाथा " ओघनिर्युक्ति " की चूर्णि में भी उल्लेखित है:-इस विधि के साथ मुखपत्ती बान्धने की प्रणाली आज भी कतिपय गच्छों में चली आती है। विक्रमीय सं० १९३१-३२ तक तो करीब २ सभी गच्छ वासी यति, सम्वेगी लोग मुखपत्ती मुख पर बांध कर व्याख्यानादि देते थे। बाद में शैने २ पुराने यति सम्वेगी मरते गए त्यों त्यों मुखपत्ती का बांधना भी यति सम्वेगियों में कम होता गया। और ज्यों ज्यों नई रोशनी के यति सम्वेगी पैदा होते गए, त्यों त्यों प्राचीन प्रणाली की निषेधना करते गए। वैसे ही इन लोगों में मुखपत्ती बांधना तो दूर किनारे रहा। किन्तु बाज २ यति सम्वेगियों ने पास में रखना भी छोड़ दिया। हमारे मूर्त्ति पूजक भाईयों के गुरुवर्य 'शतपदी' के लेखक उक्त ग्रन्थ के पृ० १५६ पर क्या लिखते हैं उक्तंच-

" मोपती विना मोंमां मछर, मखी, पाणीना बिंदुके धूल पड़े छे, देशना देतां के छींकतां मोंना गरम वायु वड़े बाहरना वायुनी विराधना थाय छे। तथा आपणी थूंका उड़ीने बीजाने स्पर्शे छे" देखिये! मुख-वस्त्रिका मुख पर न बांधने वालों के मुख में मक्खी, विष्टा आदि अशुद्ध वस्तु पर बैठी हुई मक्षिकादि उड़ कर मुंह में घुस जाती है। जहां पर पानी के फुआरे छूट रहे हों और उस के नजदीक होकर जाने का काम पड़े तथा वर्षात के दिनों में कच्चे पानी की बून्दे मुंह में गिरजाती है। देशना देने या छींकते समय मुंह की गरम वायु द्वारा बाह्य सचित वायु कायिक जीवों की विराधना होती है। तथा अपने मुंह की थूंक उछल कर शास्त्र और गुरु आदि के ऊपर पड़ने से महान आशातना लगती है। यदि हमारे मूर्ति पूजक बन्धु साक्षरी पने का दावा रखते हैं तो अपने पूर्वजों के उक्त लेख पर विचार करें और मुख-वस्त्रिका मुख पर बांधके सच्ची सनातनीय जैन प्रणाली

को स्वीकृत करें। बिना इस विधि के स्वीकृत किये आपके मुंह की गरम वास्प द्वारा बाह्य सचित वायुकायिक जीवों की तथा तदाश्रित त्रस जीव उड के मुंह में गिर कर मर जाने वाले जीवों की विराधना से आप हरगीज बच नहीं सकते। खेर ऐसी बातें तो अनेको है, सभी बातों को लिखी जाए तो एक बड़ा भारी ग्रन्थ तैयार हो जाए। किन्तु मुझे तो पाठको को जो खास मुद्दे की बातें लिख दिखाना है, उसी लाइन पर आना है। वे ये हैं कि आज कल मूर्ति पूजक भाईयों की तरफ से अनेक ग्रंथ छप कर तैयार हो के नवीन साहित्य के रूप में बाहार प्रगट हो रहे हैं उनको देख २ मनुष्यों के दिलों में बडा भारी विचारों का परिवर्तन होरहा है। उन परिवर्तन रूप विचारों की तरङ्गिणी की तरङ्गों में गोते मारते हुए वे कतिपय सज्जन गणों में से कतिपय तो कहते हैं कि मुखपत्ती का मुख पर बांधना यह सनातन से चला आता है, तो कोइ कहता है कि आधुनिक समय से चला, इस प्रकार के भ्रमोत्पादक प्रश्नों पर विचार कर मेरे परम पूजनीय गुरु वर्य्य,धर्माचार्य्य जगत् वल्लभ जैन धर्म के सुप्रसिद्ध वक्ता १००८ श्री चौथमल जी महाराज की आज्ञा से विक्रमाब्द १९७२ के साल पालनपुर के चातुर्मास से इस विषय को मैंने अपने हाथ में लिया और आज दिन विक्रमीय सं. १९८६ के फाल्गुणी पूर्णिमा तक के परिश्रम द्वारा पूर्वाचार्यों के रचित प्राचीन साहित्य ग्रन्थों के अवलोकन करने पर मुख-वस्त्रिका मुख पर बांधने विषयक प्राचीन चित्र और तद विषयक प्रमाण जो कुछ भी मुझे उपलब्ध हुए हैं, उन को 'सचित्र मुख-वस्त्रिका-निर्णय, के रूप में जो सज्जन-गण मुख-वस्त्रिका मुख पे बान्धने की सच्ची सना-जैन प्रणाली क्या है इस खोज में हैं. उन महानुभावों

के सन्मुख रखता हुआ आशा करता हूँ, कि वे इसे पढ कर हाथ में मुँहपत्ति रखने की शास्त्र विरुद्ध आधुनिक समय से प्रचलित होने वाली झूठी प्रणाली को परित्याग कर जिनागमानुकूल मुँहपत्ति मुख पे बांध ने की सच्ची सनातनी जैन प्रणाली को स्वीकार कर भगवदाज्ञा के आराधिक बनें। बस यही मेरी हार्दिक भावना है। ओ३म् सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु

ले० चतुर्विध श्री जैन संघ
का दास सौधर्म गच्छीय
शंकर-मुनि



श्रीमान् सेठ शिवचंदजी साहेब के सुपुत्र
श्रीमान् अमोलखचंदजी, शिवपुरी

Lakshmi Art, Bombay, S.

प्रकाशक का परिचय–

प्रिय महानुभाव! "ज्ञानमल केशरीचन्द" इस फर्म के वर्तमान काल में संचालक सेठ शिवचन्दजी एवं सेठ नेमीचंदजी हैं। आप ओसवाल जातीय श्वे० स्था० श्रमणोपासक सज्जन जन हैं। आपका आदि निवास स्थान, मेडले का है। यहां शिवपुरी में इस फर्म को स्थापित हुए करीव ६० वर्ष हुए होंगे। इस के मुख्य संस्थापक सेठ ज्ञानमलजी हैं। आपके पश्चात इस फर्म की वहुत कुछ उन्नति आप के पुत्र सेठ केशरीचन्दजी ने की। आप के वाद आप के सुपुत्र सेठ लालचंदजी हुए। आप के एक लघु भ्राता मूलचन्दजी साहव थोड़ी ही अवस्था में स्वर्ग वासी हो चुके थे। आप के हाथों से भी इस फर्म की वहुत ही उन्नति हुई। यह फर्म यहां के समाज में अच्छी मानी जाती है। इस के वर्तमान मालिक सेठ लालचन्दजी के सुपुत्र हैं। सेठ नेमीचन्दजी स्थानीय ऑनरेरी मेजिस्ट्रेट हैं। तथा वोर्ड साहुकारान और कोआपरेटिव वेंक के मेम्वर हैं। सेठ शिवचन्दजी वड़े सरल और मित भाषी हैं। दरवार में आपका अच्छा सम्मान है। आपको कई वार दरवार से पोशाकें इनाम मिली हैं। आप का ध्यान सदा सर्वदा दान धर्म की ओर विशेष तर रहता है।

में हुई। इसी शुभ मुहूर्त में आपने भी अपने निवास स्थान की नींव लगाई, वहीं से आप अपनी आर्थिक स्थितिका वल वढ़ाते हुए, व्यापारी वर्ग में अग्रगण्य बने। श्रीमान् सेठ शिव चन्दजी साहब के अमोलख चन्दजी नाम के एक पुत्र और दो प्रपोत्र, इसी प्रकार श्रीमान् सेठ नेमीचन्दजी के दो पुत्र और तीन वालिकाएं हैं। जैसे आप संसारी व व्यापारी वर्ग में अग्रगण्य हैं; वैसे ही आप श्वे० स्था० श्रमणोपासक समाज में भी अग्रगण्य हैं। उक्त समाज के आचार और विचारों से तथा जैन धर्म के पूरे २ मर्मज्ञ हैं। आपने अपने लिये अथवा अन्य भाइयों के धर्म ध्यानादि करने के लिये अपने निवासस्थान के निकट ही स्वकीय एक पोपधशाला भी स्थापन कर रखी है। आपके छोटे मोटे सभी घर भर वालों को धर्म की वहुत ही अच्छी लागणी है। आपने इस पुस्तक के व्यातिरिक्त और अन्य भी कई जैन धर्म सम्बन्धी पुस्तकें स्वकीय द्रव्य से छपवा कर अमूल्य वितरण कर अपनी धार्मिक उदारता का परिचय दिया है। अतः श्रीमानों से भी सादर सप्रेम नम्र निवेदन है कि उक्त धर्म प्रेमी सेठजी के अनुकरणीय कर्तव्य का अनुकरण करते हुए पाई हुई लक्ष्मी का ज्ञानादिक के प्रचारार्थ सदुपयोग करेंगे।

ॐ शांति ! शांति !! शांति !!! ॥

सचित्र मुख वस्त्रिका निर्णय.



यह फोटू श्री अर्हन्तप्रभु प्रदर्शित श्वेतांबर जैन मुनियों के वेष विन्यास का सबूत दिलाने वाला, केवल परिचय के लिये दियागया है.

Jainodey P. P. Ratlam.

विराजते मुखाम्भोजे, साधूनां मुखवस्त्रिका
रक्षिका सूक्ष्म जन्तूनां, दुरिच्छेद शस्त्रिका,,

व्याख्या-भो पाठकाः! सनातनीय श्वेताम्बरीय जैन यतीनां साधूनां मुखाम्भोजे वदन-कमले, मुखवस्त्रिका विराजते शोभते कीदृशा, मुखवस्त्रिका? उक्तं च,-एगविसंगुलायाय, सोलसंगुल विच्छिरणोः चउकार संजुयाय, मुहपोती परिसा होई॥ अर्थात् एक विंशत्यंगुला परिमित दीर्घा, षोड़शांगुला परिमित विस्तीर्णा च चतुराकारसंयुक्ता, एतादृशा रूपा मुखवस्त्रिका चारु दवरकेन सह मुखे बन्ध्यमाना विराजते-शोभते, पुनः कथं भूता? मुख वस्त्रिका बाह्य दृष्ट्या ऽ दृष्ट सूक्ष्म जन्तूनां-जीवानाम् रक्षिका पालयित्री। पुनः कथं भूता? दुरितच्छेद शस्त्रिका, पाप नाशने पटीयसी, आयुध रूपाऽस्ति॥

ॐ

मेरे विचार ।

आज कल लोगों की अभिरुचि समाज सुधार की ओर प्रबलता से बढ़ी हुई है। और पुस्तकें भी सामाजिक विषय की ही विशेष लिखी जा रही हैं: परन्तु समाज सुधार का प्रारंभ कहाँ से होता है इसको बहुत थोड़े लोग जानते हैं। और इसीलिए उन्हें सफलता भी नहीं मिलती है।

संसार में वैद्यों की कमी नहीं है परन्तु अच्छा निदान करने वाले चिकित्सक बहुत थोड़े हैं। दवा देदेना जितना सामान्य और अदना काम है उतना रोग की परीक्षा करना नहीं। और रोग की परीक्षा के बिना औषधी सेवन कराना रोग को घटाना नहीं, प्रत्युत बढाना है।

आज कल के अधिकांश वैद्यों की जैसी दशा है, ठीक वैसी ही दशा हमारे समाज सुधारकों की भी हो रही है। उन्हें भी उन वैद्यों की तरह यह नहीं मालूम है कि, वे किस मर्ज़ की दवा कर रहे हैं।

बन्धुओं ! मैं बतलाता हूँ कि, समाज सुधार का समारंभ कहां से होना चाहिए। समाज सुधार का आरंभ धार्मिक जगत् से किया जावे। धार्मिक उन्नति किए बिना सामाजिक उन्नति हो ही नहीं सकती। धार्मिक विचारों को एक ओर रख कर सामाजिक उन्नति की आशा करना दुराशा मात्र है। धार्मिक जीवन के विचार सामाजिक जीवन का प्राण है।

यदि सामाजिक उन्नति की भांति लोग धार्मिक उन्नति में लगजाएं, तो समाज सुधार अपने आप हो जा सकता है।

भद्र पुरुषों! यह वीर वसुंधरा, यह पुण्य क्षेत्र धर्म की रंग भूमि है। अन्य देशों के अधिवासी भले और किसी तरह अपनी उन्नति करलें, परन्तु धर्म प्राण भारत वासी धर्म में ही अपनी उन्नति कर सकते हैं। क्योंकि यहां के जल वायु से पले हुए पुरुषों को प्रकृति सब से पहले धर्म का ही उपदेश करती है।

कालान्तर से मेरे हृद्धाम में यह भावना उठी थी कि, सच्चा समाज सुधार कब और कैसे हो सकता है? उस का प्रशस्त राज मार्ग कौनसा है? तब स्वतः ही इन विचारों का प्रादुर्भाव हुआ कि, "लोगों को धार्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर किए जावें! धर्म के तत्व बतला कर उन के सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन किया जावे!! और उन की मार्म्मिक विवेचना द्वारा उसी में समाज की भलाई और उन्नति बत-लाई जावे!!! सो इस के लिए धार्मिक पुस्तकें लिखी जाकर पाठकों के सामने रखना ही एक अच्छा उपाय है यही सोच कर मैंने इस में हाथ डाला है।

सब से प्रथम मेरीकृति पाठकों के सन्मुख यही मुखवस्त्रि-का निर्णय, रख रहा हूँ। क्योंकि मुखवस्त्रिका के सम्बन्ध में लोगों को बहुत कुछ सन्देह और गलतफहमी है। और मन्दिरमार्गी साधु महात्माओं को भी इसको मुँहपर बांधने में बहुत वाद विवाद और हठाग्रह है।

मैं इसमें सबसे प्रथम यह बतलाऊँगा कि, 'यह मुखवस्त्रि-का असल में है क्या पदार्थ, और इस शब्द का क्या अर्थ है।

और इस के पीछे, इसकी आवश्यकता और लगाने का कारण बतलाऊँगा. और साथ यह भी बतलाऊँगा कि इसका प्रचार कब से हुआ। और कौन कौन लोग इसको मानते हैं। इसके पीछे शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करूंगा कि इसको हाथ में रखना चाहिये अथवा मुँह पर बंधी रखना ! और सब के अंत में हिंसा निवृति के अतिरिक्त स्वास्थ्य की दृष्टि से इसके शारीरिक लाभ भी बतलाऊंगा। "

यह पुस्तक मैंने किसी वाद विवाद अथवा अपना पाण्डित्य दिखाने की दृष्टि से नहीं लिखी है, बल्के पक्षपात शून्य हो कर अपने विचारों मुआफिक सच्ची और शास्त्रीय विवेचना की है।

मुखवस्त्रिका का क्या अर्थ है और वह है क्या पदार्थ।

मुखवास्त्रिका का अर्थ है 'मुख का वस्त्र' मुँह का कपड़ा अर्थात् मुँह पर बांधने का वस्त्र। और मुखवस्त्रिका शब्द शिरोवेष्टन (पगड़ी) सिरपेच. अंगरक्षिका. (अंगरखी) और पदरक्षिका. (पगरखी) की भांति यौगिक शब्द है। अर्थात् सार्थक शब्दों में से है।

जैसे शिर पर लपेटी जाने वाली (पगडी) का नाम शिरोवेष्टन, अंग की रक्षा करने वाली का नाम अंग रक्षिका और पद की रक्षा करने वाली का नाम पदरक्षिका पड़ा है। और उस ही प्रकार मुँह पर बांधने वाली का नाम मुखवस्त्रिका पड़ा है। और इस ही लिए मुखवस्त्रिका को यौगिक शब्द कहा है।

इस शब्द का अर्थ इतना बोधगम्य और सरल है कि सामान्य पढा लिखा मनुष्य भी भली प्रकार समझ सकता

है। ऐसी दशा में इसके अर्थ की इससे ज़्यादह व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है।

अब रही बात यह, कि "क्या पदार्थ" सो यह वह पदार्थ है कि जो जैन साम्प्रदायिक साधु महात्माओं, मुनि महाराजाओं, और श्रावक श्राविकाओं के मुँह पर बन्धती है। और जिस को मुँहपत्ति (मुखवस्त्रिका) बोलते हैं।

श्रावक श्राविकाएँ इसको हर समय मुँहपर बंधी नहीं रखते है। सामायिक (एक प्रकारका आत्म चिन्तवन) पौषध (सारे दिन और रात भर धर्म स्थानक में रहकर प्रभु स्मरण) के समय। परन्तु सन्त एवम् मुनियों के मुँहपर यह हर समय बंधी रहती है।

यह मुखवास्त्रिका दया के प्रचुर धनकी सांकेतिक कीर्ति ध्वजा है। तपस्वियों के तप साम्राज्य का राज्य चिन्ह है। अहिंसा के अकुपार का फेन है। समदर्शिता एवम् साम्यवाद का शृंगार है। भावी जीवन के सुख सदन की ताली है। जीव हिंसा निवृत्ति का सुदृढ कपाट है। धर्म के आज्ञा पत्र पर लगाने की रजत मुद्रिका है। ममत्व मंजूषा के कपाट की यंत्रिका (ताला) है, और मनुष्य कर्तव्य की महिमा है। आशा है पाठक इसका परिचय पा गए होंगे।

मुखवस्त्रिका की आवश्यकता और लगाने का कारण।

जो लोग प्राणी मात्र पर दया रखना चाहते हैं; जिन्होंने दया पालन अपनी इन्द्रिय वृत्ति बनाली है। उन लोगों को अदृष्ट और सूक्ष्म प्राणियों की रक्षा क्या नहीं करना चा-

हिए ! और सो भी इस अवस्था में की उनके थोड़ेसे संयम और कष्ट से लाखों जीवों की प्राण रक्षा हो सकती हो।

इसका उत्तर वे यदि 'अवश्य करना चाहिए' इन शब्दों में देंगे तो इसमें उनके शिरपर जीव रक्षा का कितना बड़ा दायित्व आ पड़ेगा। इस को स्वयम् सोच सकते हैं। और इस का उत्तर उस समय उनके पास क्या रह जाएगा जबकी उन दया के लाड़लों को यह सुझाया जायगा कि, वे पूर्ण रुप से दया नहीं कर रहे हैं: और जानते हुए भी असावधानी और उपेक्षा की शरण लेरहे हैं! कुछ भी नहीं?

भाइयों ? इस आकाशके भीतर असंख्याति असंख्य ऐसे जीवभी है कि, जो हमारी दृष्टि में नहीं आते और चलते फिरते और उड़ते रहते हैं। उन में से हम कितनों ही को 'सुक्ष्म दर्शक' यंत्र [खुर्दबीन] द्वारा देख भी सकते हैं। फिर भी उन सब को यह हमारे चमड़े के नेत्र नहीं देख पाते। उन को तो हम ज्ञान द्रष्टि से ही देख सकते हैं। और उनका अस्तित्व सम्पूर्ण मतावलम्बी मानते है। ऐसी दशा में उनकी रक्षा करना भी आवश्यक माना गया है। और जब रक्षा करना आवश्यक माना जाता है तब उसके साधनों की भी खोज होती है और बनते हैं क्योंकि "आवश्यकताही आविष्कारों की जननी है।"

आकाश के भीतर अपरिमित संख्या में जो जीव हैं उन का खून हमारी असावधानी से होता है। हम चलते फिरते हाथ हुलाते और बोलते में उन्हें मार डालते हैं। और उन का पश्चात्ताप हमको तनिक भी नहीं होता है। इन में से कितने ही तो वे लोग है जो अपने थोड़े से सुख और सुविधा के पीछे इस ओर ध्यान नहीं देते हैं। और कितने ही

जानकारी नहीं रखने से अर्थात् अपनी अज्ञानता से इन जीवों की हिंसा करते हैं । परन्तु इन में दोषी दोनो तरह के मनुष्य हैं । क्योंकि कानून नहीं जानने वाला व्यक्ति दण्ड से अपने को नहीं बचा सकता है । जब कि, जानकारी प्राप्त करने के लिए सब को स्वतन्त्रता है फिर नहीं जानने वाले लोग क्यों नहीं इसका ज्ञान प्राप्त करलेते है । हां ? जानने वालों का यह कर्तव्य अवश्य है कि, जिज्ञासु और अजान मनुष्यों को इस का मर्म बतलावे और इस का ज्ञान प्राप्त करावे; इसी लिए मैंने भी इस पुस्तक को लिखना आवश्यक समझा है ।

संसार का ऐसा कोई धर्म नहीं है जो दया को न मानता हो । सब धर्मों में दया और अहिंसा की शिक्षा सब से पहले दी गई है । मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि, सारे जगत् के प्राणियों पर दया करे " आत्मवत् सर्व भूतानाम् " इस महावाक्य को न भूले ।

मनुष्य हाथ पैर हिलाने और चलने, फिरने से शान्त रह सकता है । परन्तु बोलने से नहीं । कितने ही का स्वभाव होता है कि थक कर पड़जाने पर भी मुँह से निरर्थक और अनर्गल शब्द उगलता ही करते हैं ।

उच्चारण और श्वास प्रश्वास द्वारा मनुष्य महान् पाप कर डालता है अर्थात् मुँह की भाप से कोटान कोटि जीवों को जला देता है ।

इस से सिद्ध हुआ कि, ज्यादह हिंसा मनुष्य अपने मुँह से ही करता है । और इस की रोक न करना कितना हानि कारक है ।

इस हानि से वचने के लिए. इस महान् पातक से पीछा छुड़ाने के लिए मुखवस्त्रिका की आवश्यकता हुई। और इस ही लिए आदि पुरुषों ने इस का आविष्कार किया। और दयार्द्र महापुरुषों के इस को हर समय मुख पर धारण करने का कारण भी यही है।

मुखवस्त्रिका का प्रचार कब से हुआ और इस को कौन लोग बान्धते है !

कई धर्मों का प्रादुर्भाव पीछे से हुआ है अर्थात् कई संप्रदायों ने जन्म इस आधुनिक समय में ग्रहण किया है। इस प्रकार जैन धर्म युग धर्म और प्रचलित धर्मों में से नहीं है। प्रत्युत सनातन काल से पृथ्वी पर प्रचलित है।

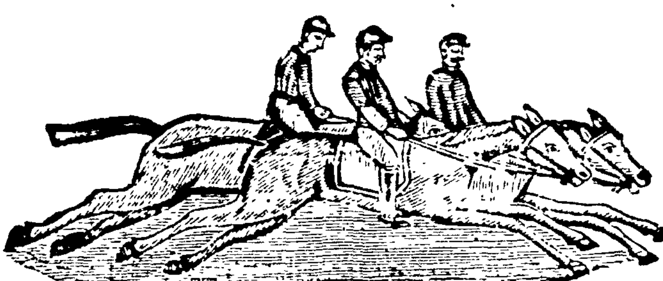
कितने ही लोगों का कथन है कि, जब बुद्धने जीव हिंसा के भीषण काण्ड से उद्वेलित होकर बुद्ध धर्म अर्थात् अहिंसा का प्रचार किया था उस समय भगवान् महावीर भी प्रकट हुए और तब से ही जैन धर्म का जन्म हुआ है। परन्तु यह कपोल कल्पित मन घड़ंत है। जैन धर्म के अस्तित्व का पता तो विचारा इतिहास भी हार पा चुका है। इस धर्म का आदि काल अतीत के गर्भ में विलीन हो रहा है हां. भगवान् महावीर गौतम बुद्ध के समकालीन अवश्य थे। और उस समय तप और अहिंसा का प्रचार प्रबल रूप से हुआ था। परन्तु इस पर यह कहदेना कि, उसी समय में इस धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है यह सिद्ध करना लच्चर और थोथी दलील है।

भगवान् महावीर तो चौवीसवें तीर्थंकर है। इन के पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके हैं। यदि भगवान् महावीर से ही इस धर्म का प्रादुर्भाव हुआ होता तो तेईस तीर्थंकर पहले कैसे होगए? भगवान् महावीर ही पहले तीर्थंकर मानें जाते। परन्तु ऐसा नहीं है।

मुखवस्त्रिका का प्रचार भी इस धर्म के साथ ही से है। नया नहीं है क्योंकि यह तो जैनियों के दया पालन का मुख्य चिन्ह है।

नया प्रचार तो मुखवस्त्रिका को हाथ में रखने का श्वेताम्बरी संप्रदाय में हुआ है जिस को प्रमाणों के सहित आगे समझाऊंगा।

लेखक।





मुखवस्त्रिका को हाथ में रखना चाहिए ? अथवा मुंह पर बंधी रखना ?

मुखवस्त्रिका के अस्तित्व में तो किसी को सन्देह ही नहीं है। जैन श्वेताम्बरीय साधु अर्थात् २२ सम्प्रदाय वाले तथा मूर्ति पूजक एवम् श्रावक भी इसे मानते हैं। क्योंकि जैनागमों में स्थल स्थल पर इसका वर्णन मिलता है. यदि प्रमाण रूप में उन सब को उद्धृत करें तो एक बड़ा पोथा इसीका बन जा सकता है। परन्तु जो बात निर्विवाद सिद्ध है उसका वर्णन करना अनावश्यक और निरर्थकसा है। फिर भी जिनकी इस में जानकारी नहीं है उन पाठकों के लिए थोड़े से प्रमाण की अवश्य आवश्यकता है। एतदर्थ इसके प्रमाण बताता हूं और वे भी ऐसे वैसे ग्रन्थों के नहीं. भगवती सूत्र इत्यादि के. जिनको श्वेताम्बरी साधु एवम् श्रावक भी अपने माननीय और उपास्य सूत्र मानते हैं। देखिए ? भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पांचवें उद्देश्य में क्या लिखा है ?

तएणं से भगवं गोयम छट्ठखमणं पारणगं सि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ बियाए पोरिसीए झाणं झियाए तइयाए पोरिसीए अतुरियं अचवलं असंभंत मुहपोत्तियं पडिलेहइ २ त्ता भायणाइं वत्थाइं पडिलेहइ २ त्ता भायणाइं पमज्जइ २ त्ता भायणाइं उग्गिण्हइ २ त्ता।

अर्थात् उसके बाद गौतम स्वामी ने बेले के दिन के-

उपवास) के पारणे के दिन प्रथम प्रहर में सूत्र स्वध्याय की। द्वितीय प्रहर में ध्यान किया और तृतीय प्रहर में 'मुह पोत्तियं' (मुखवास्त्रिका) और पात्रों की प्रमार्जना की।

और 'ज्ञाता धर्म कथाङ्ग सूत्र" के सोलहवे अध्याय म भी' 'मुहपोत्तियं' शब्द की सिद्धि के लिए जिनेश्वर ने प्रति पादन किया है।

इस ही प्रकार ' उपासकदशाङ्ग–अन्तकृताङ्ग, 'अणुत्तरोव' वाई आदि सूत्रों में भी कई स्थलों पर इस का स्पष्ट रूप से वर्णन है।

इन प्रमाणों से पाठकों को भी अब विश्वास होगया होगा कि, मुखवास्त्रिका को मानने में तो किसी को आपत्ति नहीं है। आपत्ति है तो केवल मुंह पर बांधने में। और वह भी किस को? केवल श्वेताम्बरीय मन्दिर मार्गीय साम्प्रदायिक को? और इस का वाद विवाद कालान्तर से हो रहा है। संसार के सामने इस विषय को वास्तविक चोला पहनाने का प्रयत्न आज तक किसी ने नहीं किया। जिस किसी ने भी इस पर लेखनी उठाई पक्ष पात को एक ओर रख कर नहीं। अपने अपने मत की ओर खींच कर अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। अथवा वितण्डावाद द्वारा अपनी वाणी को दूषित किया है। अतः आवश्यकता समझ कर आज इस में मैं अग्रगामी हुआ हूं। मैं इसका वर्णन करने में तटस्थ रहूंगा। और पक्षपात रहित होकर इस की सच्ची समालोचना करूगा।

संभव है, सत्य को पसंद नहीं करने वाले कितने ही महानुभावों को मेरी कड़ी आलोचना अखरे। परन्तु मुझे उनके

प्रसन्न और अप्रसन्न होजाने की परवाह ही क्या है ? मुझे तो सत्य की परवाह करनी चाहिए कि, जिस के बलपर संसार स्थिर है । मुखवस्त्रिका मुंह पर ही बंधना चाहिए। यदि इसे मुंह पर न बांधी जावे तो न तो इस से कोई लाभ ही हो सकता है । और न इस का नाम 'मुखवस्त्रिका, रखने की ही आवश्यकता पड़ती । यदि बुद्धि द्वारा इस के नाम पर विचार किया जावे तो इस की असलियत समझ में आजाना कुछ कठिन नहीं है ।

काम से नाम की रचना होने की प्रथा आज से नहीं है । सृष्टि के आदि काल से है । राजा इस लिए कहते हैं कि: वह प्रजा को रञ्जन करता है और उसे हीभूपाल इस लिए कहते हैं कि. वह पृथ्वीको पालता है। पानी पीनेके भाजनका गलव्यास (जिसका अपभ्रंश गिलास है) इस लिए कहते हैं कि, उसका गला चौड़ा है । ऊपर के कमरे को अट्टालिका (अट्ट-आलिका) इस लिए कहते हैं कि, वह ऊंचा है । पगड़ी को शिरोवेष्टन इस लिए कहते हैं कि, वह शिर पर लपटने की वस्तु है । अंगरखी का नाम अंगरक्षिका इसीलिए हुआ कि वह अंग की रक्षा करती है । पगरखी का नाम पद रक्षिका इसीलिए पड़ा है कि, वह पद की रक्षा करती है । हरिणको मृग गति इस लिए पुकारते हैं कि, वह बहुत तेज दौड़ता है। बन्दरों को शाखामृग इस लिए कहते हैं कि, वे वृक्ष की साखों पर भागते हैं । क्षत्रियों को राजपूत (राज पुत्र) इसलिए कहते हैं कि, वे राजा के पुत्र हैं बद्दलों को नीर धर इस लिए कहते हैं कि, वे जल को धारण करने वाले हैं । कुचों को पयोधर इस लिए कहते हैं कि, वे दुध धारण करते हैं । महलों का नाम 'महालय' इस लिए हैं कि, वे बड़े घर हैं । जल

के जीवों को जलचर इस लिए कहते हैं कि, वे जल में विचरण करने वाले हैं। उड़ने वाले जन्तुओं को नभचर इस लिए कहते हैं कि, वे आकाश गामी है। इनका वर्णन कहां तक करूं। ऐसे नामों की संख्या अपरिमित है। इन उदाहरणों से मेरा भाव यह है कि, जैसे उपरोक्त नाम कामके साथ है, उस ही प्रकार मुखवस्त्रिका का नाम भी काम से ही रचा गया है। अर्थात् मुखपर बंधती है इसी लिए उसका नाम मुखवस्त्रिका पड़ा है।

यदि मन्दिर मार्गी भाइयों के कथनानुसार: यह हाथ में रखने का वस्त्र होता तो इसका नाम हस्ताडा अथवा रूमाल पड़ता। मुखवस्त्र का कभी नहीं होता। और सूत्रों मे भी मुहपोत्तियं, के स्थान में 'हत्थपोत्तियं, लिखा मिलता। अब इस में तार्किकों की यह शंका होसकती है कि, सूत्रोक्त मुहपोत्तियम् शब्द का अर्थ केवल 'मुंह का वस्त्र 'ही होता है फिर बांधना अर्थ कैसे लगाया। सो इस शंका का निराकरण इस प्रकार हो सकता है कि, सूत्र भाव गंभीर होते हैं उन्ह में थोड़े शब्दों में लम्बा चौड़ा आशय भरा रहता है। सूत्रों को समझाने के लिए पण्डितों ने उन पर वृत्ति और व्याख्या की रचना की है। और उनको, छोटे छोटे सूत्रों को बोधगम्य बनाने के लिए महान भाष्यों का निर्माण करना पड़ा है। यही क्यों सूत्र, शब्द की व्याख्या ही को देखिए "सूत्रयन्ति सूचयंति अल्पाक्षरैः बहून्यर्थाणि इति सूत्रम् अर्थात थोड़े अक्षरों में बहुत अर्थ हो उसे सूत्र कहते है

सूत्रों के अर्थ में प्रायः लक्षणा होती है। जैसे भारत वर्ष धार्मिक है, इसमें अभिधान के अनुसार भारत वर्ष एक देश का

नाम है और देश धार्मिक नहीं हो सकता, परन्तु इस जगह लक्षणा से 'भारतवासी लोग धार्मिक है, यह अर्थ लिया जाएगा । ठीक इस ही प्रकार 'मुखवस्त्रिका का अर्थ भी मुखपर बंधने वाला वस्त्र लिया जायगा । क्या, लक्षणा से इस प्रकार का अर्थ करना माननीय है ! और उस का प्रयोग कहां तक होता है ! ऐसे प्रश्न तार्किकों के फिर भी होसकते हैं । ऐसी दशा में इसका उत्तर देदेना भी अनुचित नहीं होगा । और वह भी युक्ति युक्त और उदाहरणों सहित होना चाहिए ।

प्रिय पाठक ! इसको तो सारे विद्वान मानते हैं कि, लक्षणा, साहित्य का एक मुख अंग है । और लक्षणा ही काव्य को भाव पूर्ण बनाती है । उस काव्य का, काव्य जगत् में कोई आदर नहीं होता जिस में शब्दों का बाहुल्य और अर्थ की अल्पता हो । उत्तम काव्य तो वह है जो थोड़े शब्दों में ज्यादह भाव व्यक्त कर सके और उसका तात्पर्यार्थ लिया जा सके । और ऐसा जो काव्य होगा उसमें और २ अंगों के साथ लक्षणा ज़रूर होगी ऐसी स्थिति में लक्षणा से अर्थ करना क्यों सही और सत्य नहीं है । अवश्य है । जिस को थोड़ा भी साहित्य का ज्ञान है वह इसके मानने में ज़रा भी आगा पीछा नहीं होसकता है

अब मुझे यह समझाना है कि, इस का प्रयोग कहां तक होता है सो इसका प्रयोग तो प्रत्येक मनुष्य की जिह्वा द्वारा नित्य प्रति हुआ ही करता है और उस में तार्किकों का कोई गुजर ही नहीं है ।

देखिए ? कोई किसी को यह कहे कि, पानी लाओ तो क्या तार्किक महाशय उसमें यह शंका करेगा कि, लोटे में भर कर लाने का अर्थ इस में से नहीं निकलता है । गलत ! पानी जब

लाया जायगा तो पात्र के बिना नहीं आसकता है परन्तु पात्र के लिए कहने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है । इस ही प्रकार 'रोटी खाओ' इस शब्द में से यह अर्थ नहीं निकलता है कि, हाथ से लेकर मुंह से खाओ, दन्तों से चबाओ। परन्तु जिस के हृदय के नेत्र हैं वे समझ ही लेते है कि, हाथ के द्वारा तोड़कर रोटी मुखसे ही खाई जाती है। और कोई साधन नहीं है। और भी बताता हूं कि, कोई किसी को यह आदेश करे कि, घर जाओ तो क्या जानेवाले को जूते पहन कर पावसे चलने की बात भी समझानी पड़ेगी। कभी नहीं। रथी अपने सारथी को रथ लाने की आज्ञा देगा तो 'रथ लाओ' केवल इतना भर बोलेगा इसके शब्दार्थ में घोड़े जोत कर लाओ इतना मतलब नहीं निकलता। परन्तु रथ घोड़े जोतकर ही लाया जाता है । अतः सारथी को इतना कहने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् रथलाओ, इसी का अर्थ घोड़े जोतकर लानेका होजाता है ।

ऐसे सहस्रों सांकेतिक शब्द हैं जिनके कहते ही उनका सारा आशय लोगों की समझ में शीघ्र ही आजाता है । वैसे ही शब्दों में से 'मुखवस्त्रिका' शब्द भी है और इसका अर्थ भी लक्षणा से यही होगा कि, मुंह पर बांधनेका वस्त्र ।

यदि सम्पूर्ण जगत् तार्किकों से ही भरा हुआ होतो संसार में कोई कार्य्य ही नहीं हो सकता । और जीवन भारवत् होजाय। तर्क हरबात में हरकार्य में हो तो सकती है । परन्तु बात २ पर तर्क करना अच्छे और सच्चे आदमियों का काम कदापि नहीं है । सभ्य संसार ने ऐसे मनुष्यों की गणना छिद्रान्वेषियों में की है। संसार में कोई किसी का पक्ष ग्रहण

करना चाहे तो सत्यका, अन्यथा वह दुराग्रही साबित होगा। और विजय लक्ष्मी भी उसको प्राप्त नहीं होगी। कोई मनुष्य जब किसी नये बखेड़े को खड़ा करता है तो संसार के सम्मुख वह झूठा प्रमाणित होने पर भी उसकी दुम पकड़े ही रहता है। परंतु यह उसकी कम जोरी है। अपराध और भूल को स्वीकार नही करना हृदय दौर्बल्य है! मानसिक निर्बलता है। अच्छे आदमी ऐसा कभी नहीं करते। वे अपनी भूलों को लोगों के सामने रखने में कभी नहीं हिच किचाते। बल्के खुले शब्दों में उसे स्वीकार करके अनजान मनुष्यों को सचेत करते हैं कि. उनके तरह और कोई ऐसी भूलें न कर बैठे। महान् पुरुषों की छोटी २ भूलों ने संसार में बहुत बड़ा बिगाड़ किया है।

बड़े आदमियों और समाज के नेताओं पर समाज के हानि. लाभ का बहुत बड़ा दायित्व है। इसलिए कि. 'महाजनो येन गतः स पंथः' इस उक्ति के अनुसार छोटे आदमी सदा से बड़ों का अनुकरण करते आए हैं। यदि बड़े कोई गलती कर जाएं और उसको वे छुपा कर उसका सुधार न करले तो छोटे तो उस भूल को ही अपना आदर्श मानलेते हैं और उससे समाज की कितनी हानि होजा सकती है इसको विचारशील पाठक सोच सकते हैं।

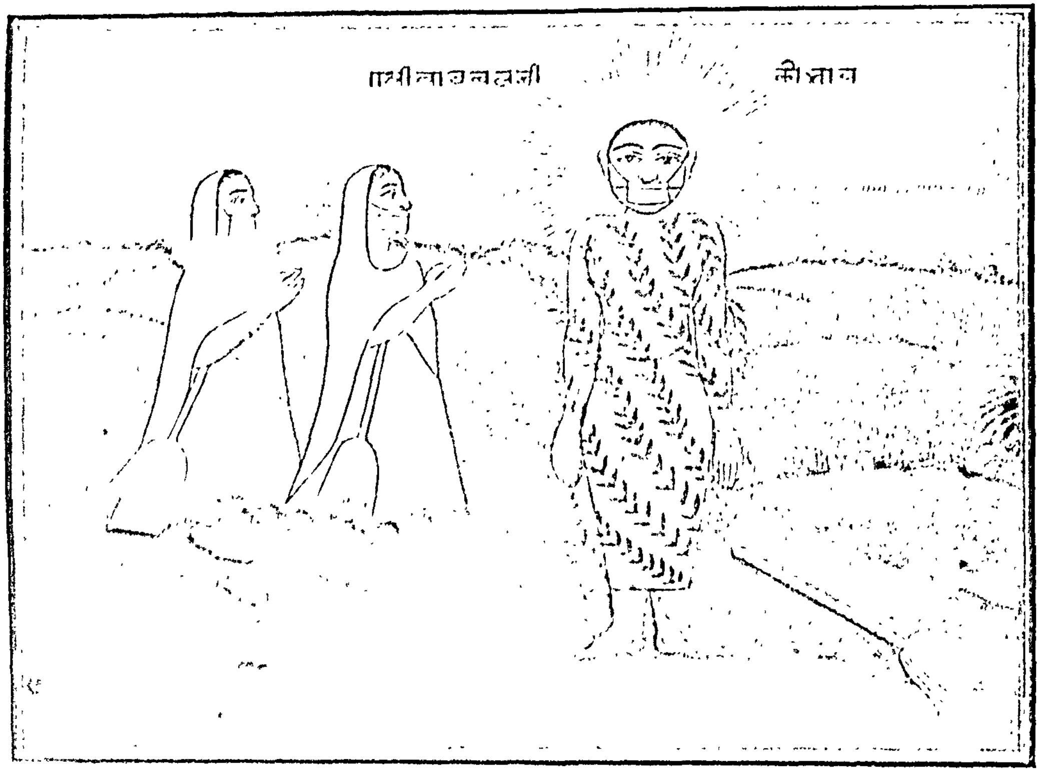
हां. अच्छे और बुरे को सोचे बिना ही बड़ों का अनुकरण करना निरान्ध विश्वास जरूर है। परन्तु जिन में सोचने की ताकत ही नहीं है वे बड़ों के नाम पर बिकते रहें तो इस में आश्चर्य ही क्या है। ऐसे ही मुख वस्त्रिका को पहले किसी एक ने प्रमादवश यदा मुंह पर बान्धने की अटपटी

से हाथ में रखली होगा वही बात पकड़ी गई और उसी पर आज सारे श्वेताम्बरी मन्दिर मार्गी साधु व श्रावक उतर पड़े हैं। परन्तु उन्हें यह पता नहीं है कि, उन लोगों में पहिले मुख वस्त्रिका मुंहके ही ऊपर बांधी जाती थी। हाथ में नहीं रक्खी जाती थी।

अन्ध परंपरा और महजब के नाम पर ना समझलोगों ने कितने ही हत्या कागड करडाले हैं। परंपरा क्या पदार्थ है? महजब क्या चीज है?? इसका समझना सामान्य पुरुषों का काम नहीं है। अधिकांश मनुष्य नारकीय यातना के भय से ही किसी काम को नहीं करते और स्वर्गीय सुखों की लालसा से ही किसी कार्य्य को सम्पादन करते हैं। परन्तु उन्हें वास्तविक ज्ञान नहीं होता है। वे अच्छा समझकर किसी काम को करते हों और बुरा समझकर छोड़ देते हों सो बात नहीं। नरक का भय और स्वर्ग की लाससा ही उनके कर्त्तव्य की कुंजी है। परन्तु मानव धर्म बड़ों के नाम पर बिकने की सलाह कभी भी नहीं देता। बड़े बुरा काम कर जाएँ तो छोटों का यह काम कदापि नहीं है कि, वे भी वैसा ही करें। यद्यपि उन्होंने भ्रम में पड़कर कुछ दिन वैसा कर भी लिया हो तथापि अब तो उनको उन्ह कुरूढ़िया से परहेज़ करना चाहिए। चित होजाने पर भी पहलवान ताल ठोंकता रहे और पहलवानी का लंगर पहने रहे तो यह उसकी धृष्टता नहीं तो और क्या है। मनुष्यत्व तो इसी में है कि, अपनी भूलों का सुधार करले। मुखवस्त्रिका को पहले किसी ने भूलकर हाथमें रखली और मुंह पर नहीं बांधी तो क्या जरूरत है कि, हम भी वैसा ही करे। मसलन मशहूर है कि, किसी स्थान पर कुत्ते के

फड़ फड़ाने से उसका गलूड़े (कीट विशेष) उछल कर

(चित्र परिचय के लिये, वन्दन के लिये नहीं)



कथा करने वाले के मुंहमें आगिरी उसने शीघ्र ही थूक दिया। उसका अभिप्राय श्रोताओं ने यह समझा कि, कुत्ते के कान फड़ फड़ाने पर थूकना चाहिए। और कथा करने वाले का सबने अनुकरण किया। अर्थात् थूका। कथा भट्ट महान् दंभी था, उसने किसी को थूकने का कारण नहीं समझाया, तब से यह प्रथा प्राचलित हो गई कि, कुत्ते के कान फड़ फड़ाने पर लोग थूकते हैं। आज उन्हें थूकने से मना करते हैं तो परंपरा के अंधभक्त नहीं मानते हैं और कहते हैं, हम तो जैसा पहले से करते आए हैं, उसे नहीं छोड़ेंगे। परन्तु इस में बुद्धिमानी नहीं है।

मुझे आज कोई दलीलों से सिद्ध करके किसी बात को समझा दे तो मैं कालान्तर की ग्रहण की हुई बात को एक क्षण भर में छोड़ देने के लिए प्रस्तुत हूं। इस ही प्रकार मन्दिरमार्गी भाइयों से प्रार्थना है कि, वे भी मुखवस्त्रिकाको हाथ में रखने की हटको छोड दें। यह तो मुख पर बांधने की ही वस्तु है। हाथ में रखने की नहीं, न यह हाथ में शोभा ही पाती है। क्योंकि कोई भी पदार्थ अपने स्थान के विना शोभित नहीं होता। कहा है "स्थान एव हि योज्यन्ते, भृत्याश्चा भरणानि च। नहि चूडामणिः पादे, नूपुरं मस्तके यथा"॥

अर्थात् भृत्य और भूषण को अपने २ स्थान पर ही रखने चाहिए। चूड़ा मणि (बोर) पैर में और नूपुर मस्तक पर धारण नहीं किया जा सकता। किसी कवि ने और भी कहा है "मुकुटे रोपितः काचः, चरणा भरणो मणिः। नहि दोषो मणेरस्ति, किन्तु साधोर विज्ञता"॥ अर्थात् मुकुट में तो कांच का टुकड़ा और पैर के भूषण में मणि लगाई जाय

नहीं ? मनु महाराज ने तो राजा वेणु के समय की प्रथाका वर्णन कर उसका खंडन किया है अर्थात् एक भारी ग्रन्थी को खोला है। और आर्य्यसमाजी भाई पूर्वापर सम्बन्ध छोड़कर वीचके श्लोकों को प्रमाण में रखते हैं। परन्तु जिस वेणु के अत्याचार से पृथ्वी पीड़ित होउठी थी और अत्या चार के कारण वह नाश को प्राप्त हुआ था और उसके मन्थन से महाराज पृथु प्रकट हुए थे उसी वेणु की दूषित प्रथा को धर्म का रूप दे देना जितना आर्य समाजी भाइयों को शोभा देता है। उतना ही यह मुखवस्त्रिका को हाथ में रखने का प्रमाण मन्दिरमार्गी भाइयों को भी शोभा देरहा है। एक प्रसिद्ध कवि ने कहा है "अपने मतलव के प्रमाण शैतान भी शास्त्रों में से देसकता है" ※

इस सूत्र में जो पूर्वापर सम्बन्ध छूट गया है उसका वर्णन किए विना इस शंका का समाधान नहीं होगा। अतः उसका वर्णन करता हूँ॥

वाचकवर्ग ? दो हजार वर्ष पूर्व की घटना है "एक दिन गौतम स्वामी भिक्षाशन प्राप्त करने के लिए बस्ती में पधारे। वहां एक दुःखित आत्मा बहते हुए व्रणों से युक्त शरीर के अत्यन्त दुखी भिखमंगे को देखा। स्वामी ने दयार्द्र होकर विचार किया, कि इस मनुष्यके लिये तो यह लोक ही नर्क होरहा है। इससे बढ़कर नर्क की यंत्रणा क्या हो सकती है ? लौटने पर भगवान महावीर से उस मंगते की दारुण व्यथा का वर्णन कारुण्य पूर्ण शब्दों में किया। इस पर भगवानने कहा' गौतम नर्क में तो इससे भी वढ़ कर दुःख हैं यदि इस रहस्य को जान-

※ देखो 'चांद' की नवम्बर मास की सन १९२४ की संख्या

ना है, तो मृगा नाम्नी रानी के मृगा लोढ़ा नामक पुत्र है, उसे जाकर देखो ? उसके न हाथ हैं न पैर ? केवल पिन्ड मात्र है। और वह महान् दुःखी है। इस पर गौतम स्वामी उस लड़के को देखने के लिए पधारे। भगवान् गौतम का आगमन सुनते ही रानी मृगावती सामने आई। और गौतम स्वामी का स्वागत किया। आगमन का कारण जानने पर रानी ने कहा "भगवन् ? यदि आप उस लड़के को देखना चाहते हैं तो मुंह बांध लीजिए, उस के पास बड़ी दुर्गन्ध आती है" इस मुंह बांध लेने से रानी का अभिप्राय नाक पर कपड़ा लपटने से है, न कि मुखवस्त्रिका बांधने से।

इस में पाठक यह शंका करेंगे कि, यदि यही बात थी तो नाक बांधने के लिए क्यों नहीं कहा ? इसका यह उत्तर है कि, प्राय-दुर्गन्ध के स्थान पर लोग मुंह के आड़ा पल्ला देदो मुंह बांधलो ! ऐसा ही कहा करते हैं। अर्थात् प्रयोग में यही वाक्य आता है। और इस लिए रानी ने भी नाक बांधने के स्थान में मुंह बांधने के लिए कहा था ; मुख वस्त्रिका के लिए नहीं। भगवान् गौतम के मुख पर मुख वस्त्रिका तो प्रथम ही बन्धी हुई थी। यदि ऐसा नहीं था तो हम तार्किकों से यों पूछते हैं कि, क्या, गन्ध, मुख ग्रहण करता है ? कभी नहीं ? न्याय में लिखा है "घ्राण ग्राह्यो गुणोगन्धः" अर्थात घ्राणेन्द्रिय (नाक) से गन्ध की पहचान होती है। इसको तो मन्दिर मार्गीय महानुभाव भी मानते हैं कि, रानी ने बोलने के लिए नहीं किन्तु दुर्गन्ध की रक्षा के लिए मुंह बान्धने को कहा था। और दुर्गन्ध का बचाव नाक बांधने से ही हो सकता है। इसी दशा में रानी ने नाक न कह कर प्रचलित शब्दों का प्रयोग

किया अर्थात मुंह बांधने के लिए कह दिया तो क्या इस से यह सिद्ध होजाएगा, कि मुंह पर मुखवस्त्रिका बंधाई थी कभी नहीं ! त्रिकाल में भी नहीं ??

भाइयों ? ऐसी रेत की दीवार से दुर्ग खड़ा नही किया जासकता। आपकी यह आशा दुराशा मात्र है और इस में आप को कभी सफलता नहीं मिल सकती। नाक बंध करने के स्थान पर प्रायः मुंह बांधने के लिए कह देने की आदत लोगों की आधुनिक काल से जारी हो गई हो सो बात नहीं हैं ; प्राचीन शास्त्रों में भी इस का प्रमाण मिलता है ; देखिये ज्ञात सूत्र के नव में अध्याय में कहा है.

"तएणं ते मागंदिया दारए तेणं अशुभेणं गंधेणं अभिभूया समाणं सएहिं नुत्तरज्जेहिं आसायं पेहेई" अर्थात उस मागंदिक गाथापति के पुत्र ने उस असाधारण एवम् तीव्र गन्ध से आकुल होकर (आसायं) मुखको ढांक दिया। इस स्थान पर आप शब्दार्थ पर उतर पड़ें तो असंगति के दोषी हुए बिना नहीं रहेंगे क्योंकि सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी यह समझ सकता है कि, दुर्गन्ध की रक्षा नाक द्वारा हो सकती है न कि मुख द्वारा। आपके प्रमाण भूत उपरोक्त सूत्र के मुख बांधने के वाक्य का अर्थ भी अबतो आप समझ ही गए होंगे ॥

पाठको ? जिन्हें सत्य और न्याय का पक्ष है और शास्त्र वेत्ता हैं वे तो अब मान ही लेंगे कि, मुखवस्त्रिका को मुख पर ही बांधना चाहिए। और जो दुराग्रही और व्यर्थ के हठी हैं उनको तो कष्ट देने की हमारी भी इच्छा नहीं है। वे तो अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग अलापा करें। इस विश्राम में मैंने मन्दिर मार्गीय भाइयों के प्रमाण का पूर्ण रूप

से खण्डन करके दलीलों आदि द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि, मुखवस्त्रिका हाथ में नहीं रक्खी जावे मुख पर बांधी जावे। अब मैं आगे के विश्रामों में इस के शास्त्रीय प्रमाण देता हूं।

मुख वस्त्रिका मुख पर ही बांधी जाती है, इसके प्रमाण

युक्तियों और दलीलों द्वारा तो मुखवस्त्रिका को मुखपर बान्धना साबित ही है परंतु शास्त्रीय प्रमाणों से भी इसे प्रमाणित करना आवश्यक है। अतः इस के प्रमाण दिए जाते हैं।

मन्दिर मार्गियों के ग्रन्थ क्या कह रहे हैं

मन्दिरमार्गियों का परम माननीय 'महानिशीथ' नामक सूत्र के सातवें अध्याय में लिखा है

" कन्नो ठियाएवा, मुहणं-तगेण वा ॥
विणा इरियं पडिक्कम्मे, मिछुक्कडं पुरिमड्ढं वा ॥ "

अस्यटीका—कर्णस्थितया मुखपोतिकया इति विशेष्यं मुखान्तकेन वा विना इर्य्या प्रतिक्रामेत् मिथ्यादुष्कृतं पुरिमर्द्धिं वा प्रायश्चितम्।

अर्थात् (मुहणंतगेणवा) मुखवस्त्रिका [कन्नोठियाएवा] कानों में बांधे (विणा) विना (इरियं) मार्ग में गमनागमन का विचार (पडिक्कम्मे) करे तो उस को (मिछुक्कडं) मिथ्यादुष्कृत का दण्ड [वा] अथवा [पुरिमड्ढ] दो प्रहर पर्यन्त भूखा रहने का दण्ड अङ्गीकृत करना चाहिए.

पाठक ! कितनी कठोर आज्ञा है। मुखवस्त्रिका मुख पर बांधे विना कोई एक पद भी नहीं चल सकता। और यदि चले तो कड़ी सज़ा। आश्चर्य है कि, ऐसे स्पष्ट और बड़े गंभीर शब्दों को सुनने में बधिर होकर एक और हट जाते

हैं। और व्यर्थ के वाद विवाद में धर्म का खून कर रहे हैं क्या यह अच्छे विचारों का सुबूत है ! और एक ही सूत्र में ऐसा लिखा हो सो बात नहीं है। और भी कई सूत्रों में इस के प्रमाण विद्यमान हैं। सामायिक सूत्र में लिखा है

(मुहणंतगेण कणोट्ठियाए; विणा वंधइ जे कोवि सावए धम्मकिरियायं करंति तस्स एका रस्स सामाइयस्सणं पाय च्छितं भवति। अर्थात् यदि कोई श्रावक मुखवस्त्रिका को कानों में बांधे विना ही धर्म्म क्रिया करेतो उसके प्रायश्चित में उसको ११ (एकादश) सामाई [सामायिक] करना पड़ता है। अतः श्रावकों को धर्मक्रिया करते समय मुखवस्त्रिका मुख पर अवश्य बांधनी चाहिए। अब देखिएगा ! जब श्रावकों के लिए ऐसी धर्म्माज्ञा है तो साधु उससे विमुख कैसे रह सकते हैं। बल्कि गार्हस्थ्य जीवन में तो धर्म्म क्रिया का समय नियत है और इसीलिए श्रावकों को धर्म क्रिया के समय ही मुखवस्त्रिका बांधने का आदेश किया है। परन्तु साधु जीवन में तो हर समय धर्म क्रिया में प्रवृत्त रहना पड़ता है। और ऐसी दशा में मुखवस्त्रिका साधुओं को हर समय बांधनी चाहिए। परंतु मन्दिर मार्गी साधु महात्मा हर समय तो दूर किसी भी समय नहीं—बांधते हैं तो क्या उनको यही उचित है कदापि नहीं ! त्रिकाल में भी नहीं ??

मन्दिर मार्गीय भाइयों का यह भी कथन है कि, मुखवस्त्रिका जीव हिंसा निवृत्यर्थ नहीं है पुस्तक पर थूक न गिर जाय इसलिए पुस्तकावलोकन के समय मुख के आड़ी रख लेना चाहिए। सो उनका यह कहना असत्य है। मुखवस्त्रिका जीव हिंसा निवृत्यर्थ है इस का प्रमाण भी चाहिए अतः

चित्र परिचयके लिये, वन्दनेके लिये नहीं।



गजसुकमाल मुनिके सिरपर सोमल ससुर मिट्टीकी पाल बांध कर जाज्वल्यमान अंगारे धर रहा है।

प्रमाण देता हूं और वह भी मन्दिर मार्गी भाईयों के ग्रन्थ में से ही। देखिए! इन के 'ओघ निर्युक्ति' नामक ग्रन्थ की १६६-६४ वीं चूर्णी की गाथा में लिखा है।

संपाइम रयणु, परमझण ठावयंति मुहपोतिं।
नासं मुहं च बन्धइ, तीएव सहि पमज्झन्तो ॥

अर्थात् खुले मुंह बोलने से जीवों की हिंसा होती है अतः मुखवस्त्रिका को मुखपर बांधना चाहिए। इस ही प्रकार "श्रीप्रकरणरत्नाकर" के अन्तर्गत मन्दिर मार्गियों के आचार्य्य श्रीनेमिचन्द्र सूरि ने अपनी "प्रवचनसारोद्धार" नामक रचना में मुखवस्त्रिका को जीव हिंसा निवृत्ति के लिए मुखपर बांधने का आदेश किया है, जो उक्तरचना के पृष्ठ १४१ पर अङ्कित है। क्या अब भी किसी को यह शंका हो सकती है कि, मुखवस्त्रिका बाष्प द्वारा मरजाने वाले जीवों पर दया करने का साधन नहीं है? पुस्तक पर गिरने वाले थूक कण की रोक का कपड़ा है? हर्गिज नहीं! मुखवस्त्रिका को मुख पर ही बांधना चाहिए इसके और भी प्रमाण देता हूं। देखिए! मन्दिर मार्गी साम्प्रदायिक पूर्वाचार्य श्रीमद् चिदानंद महाराज रचित "स्याद्वादानुभवरत्नाकर" ग्रन्थ के ५८ वें पृष्ठ पर ३३ वीं पंक्ति में उल्लेख है कि 'कान में मुंहपत्ति गिराकर व्याख्यान नहीं देना यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि आचार्यों ने परम्परा से कान में गिराकर व्याख्यान देने का ही उपदेश किया है" और उस ही ग्रन्थ में उन आचार्य ने आगे चलकर पुनः लिखा है "कान में मुहपत्ति बांध कर व्याख्यान देना चाहिए' विचार शील पाठक! इनसे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकते हैं और मुखवस्त्रिका मुख पर बांधने में अब कोई क्या सन्देह कर सकता है, आप ही कहिये?

उपरोक्त प्रमाणों ही से इस विवादग्रस्त प्रश्न को छोड़ नहीं रहा हूं। और भी कई प्रमाण हैं उन सबको उद्धृत किये विना पाठको और (यदि न्याय दृष्टि से मानेंगे तो) मन्दिर मार्गी भाईयों को सन्तोष नहीं होगा । देखिये ! दीक्षाकुमारी द्वितीय भाग पृष्ठ २७४ पर अङ्कित है।

"तमे तप गच्छ ना साधु छो। अने मूर्ति ने माननारा छो। तो पण तमारा क्रिया मार्ग नी अन्दर अनेक जात नी सामा चारी प्रवर्ते छे । कोई मुखे मुखवस्त्रिका वांधेछे, अने कोई नथी वांधता " इस से भी यह सिद्ध है कि खास मन्दिर मार्गियों में भी वहुतों में मुखवस्त्रिका मुख पर वांधने का प्रचार है, और वहुतों में नहीं।

और पहले मूर्ति पूजक साधु और गृहस्थ सब ही मुख-वस्त्रिका को मुखपर वांधते थे इसके वहुत से प्रमाण खरतर गच्छ में मिलते हैं। कृपाचन्द्र सूरि व्याख्यान देते समय मुख पर मुखवस्त्रिका वांधते हैं । और पतासीनी पोल दोसी वाहा अहमदावाद, डेलानी संप्रदाय के धर्म विजयजी पण्यास, मणिविजयजी दादाजी की संप्रदाय के यद्धा सिद्धिविजयजी आचार्य और मेघविजयजी पण्यास आदि संवेगी साधु व्याख्यान देते समय अव भी मुखवस्त्रिका वांधते हैं। यदि मुखवस्त्रिका मुख पर नहीं वांधी जाती तो खास मन्दिर मार्गियों में ऐसा प्रचार कैसे हो सकता था?

मन्दिर मार्गियों में जिनको दया की कुछ कीमत मालूम है वे अव भी मुखवस्त्रिका को मुंह पर वांधना नहीं छोड़ते हैं। और जिनको अपने वेष विन्यास का ध्यान है और शान

और सौन्दर्य के उपासक हैं वे दया की परवाह नहीं करते और अपनी जिद्से मुखवस्त्रिका को हाथ में रखते हैं। परन्तु मुखवस्त्रिका को हाथ में रखने के लिए उनके पास अब कोई जवाब नहीं है।

उनके अर्थात् मन्दिर मार्गियों के कई आचार्यों ने भी सूत्रों आदिका ही अनुकरण करके पीछे से जो ग्रन्थ निर्माण किए हैं, उनमें भी मुखवस्त्रिका को मुखपर बांधे रहने का आदेश किया है। जैसा कि, देवसूरि, आचार्य्य ने स्वरचित समाचारी ग्रन्थ में लिखा है "मुखवस्त्रिकां प्रति लेख्य मुखे बध्वा प्रति लेखयति रजोहरणम्" अर्थात् मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखण करके मुखवस्त्रिका को मुख पर बांध कर रजोहरण की प्रतिलेखणा करना चाहिए।

और इन्हीं के पूर्वाचार्य उद्योतसागरजी ने अपनी रचना "श्रीसम्यकत्व मूल बार व्रतनी टीप" के पृष्ठ १२१ पर यों लिखा है कि, "तीजो चल दृष्टि दोष ते, सामायिक लईने पछी दृष्टि ने नाशिका ऊपर राखे, अने मन मां शुद्ध उपयोग राखे, मौन पणे ध्यान करे तथा जे सामायिक वंत ने शास्त्र अभ्यास करवो होय तो जयणा युक्त थई मुंहपत्ति मुखे बांधी ने पुस्तक ऊपर दृष्टि राखीने भणे तथा सांभले"

पाठक महाशय! इसमें श्रावकों को मुखवस्त्रिका मुखपर बांधने की आज्ञा दी है, जैसा कि, पहले भी एक उदाहरण में आचुका है। इसको सब कोई समझ सकते हैं कि, एक धर्म गुरु जिस बात का अपने श्रावकों को उपदेश करे उसका आचरण स्वयम् आचार्य होकर नहीं करे यह कैसे

संभव हो सकता है। आचार्य्य पहले आचरण करके फि अपने अनुयायी श्रावकों को उसका उपदेश करते हैं। और तभी श्रावक लोग मानते भी हैं। समय समय पर इन मन्दिर मार्गियों के आचार्य मुखवस्त्रिका को मुखपर बांधने का आदेश करते रहे हैं, इससे यह पाया जाता है कि, वार वार कई साधु श्रावक मुखवस्त्रिका को मुखपर बांधने में उच्छृङ्खल होगए थे। मन्दिर मार्गियों की सम्प्रदाय में एक हरिभद्र सूरि नामक बड़े धर्माचार्य होगये हैं। वे अपने बनाए हुए "षड् दर्शन समुच्चय" नामक ग्रन्थ में लिख गये हैं।

विटेति भारते ख्याता, दारवी मुखवस्त्रिका ।
दया निमित्तं भूतानां, मुखनिश्वासरोधिका ॥

इसका यह अर्थ है कि, भारत में वीटा दारवी को भी मुखवस्त्रिका कहते हैं। वह जीव धारियों की दया के लिये मुख का श्वास रोकने वाली है। यह प्रमाण भी मन्दिर मार्गियों के इस तर्क का उत्तर देता है कि "मुख-वस्त्रिका जीव हिंसा की रोक के लिये नहीं प्रत्युत पुस्तक इत्यादि पर उच्छिष्ट नहीं गिरने के लिये है" यदि इसमें मन्दिरमार्गियों का तर्क ठोस होता तो क्या, उन्हीं के आचार्य्य यह लिखते कि 'दया निमित्तं भूतानां, मुख-निश्वासरोधिका' कभी नहीं।

विचार शील भाइयों ! एवम् बहिनों ! आपने मन्दिर मार्गी भाइयों के सूत्रों, धर्म ग्रन्थों और आचार्य्यों की दिव्य वाणी में ही हमारे सत्य का उज्वल प्रकाश देखलिया है। अर्थात् उन्हीके माननीय ग्रन्थों को साक्षीभूत करके हमने

यह प्रमाणित कर दिया है कि, 'मुखवस्त्रिका हाथ में नहीं रह सकती। मुंह पर बंधती है। अब मैं संवेगियों के उन रास ढाल, और स्तवनों का प्रमाण देता हूं जो उन्ही के साधु महात्माओं और आचार्यों द्वारा धर्म ग्रन्थों के पूर्व और पश्चात् बने हैं।

मन्दिर मार्गियों के रास, ढाल और स्तवन आदि के प्रमाण

जिस धर्म की प्रवृति धारा जिधर एक बार प्रवाहित हो जाती है, उधर ही उसकी सम्प्रदाय वह निकलती है। उस समय किसी में भी उसके विरुद्ध आवाज उठाने का साहस नहीं होता। हां, शताब्दियों के पीछे युगान्तर में जब क्रान्ति की भीषण लहर कल्लोल करती हुई उठती है, उस समय भले ही विरुद्धाचरण का उद्घोष निनादित हो उठता है। परन्तु क्रान्तिकारी किसी महापुरुष का जन्म होने के पीछे ही ऐसा संभव है। अन्यथा उसी प्रचालित धर्म का अनुगमन और अनुकरण होता रहता है। व्याख्यान दाताओं के व्याख्यान उसी प्रचलित धर्म की घोषणा ' पंडितों की व्याख्या उसका स्पष्टीकरण और कवियों की काव्य-रचना उसका कीर्ति कलाप करती है। इसी प्रगति के अनुसार मन्दिर-मार्गी साधु सन्त एवम् श्रावकों के रासों ढालों और स्तवनों की नवीन रचनाओं में भी मुखवस्त्रिका को मुँहपर बांधने के सम्बन्ध में वे ही शब्द वे ही उद्गार निकलते हैं जो निकलने चाहिये थे। अतः उनमें से भी कुछ उक्तियों को प्रमाणार्थ उध्दृत करते हैं।

मुनि लब्धि विजयजी महाराज ने अपनी बनाई हुई "हरिबल मच्छी के रास" नामक पुस्तक की सत्ताईस वीं ढाल के दोहे में इस प्रकार कहा है—

"सुलभ बोधी जीवड़ा, मांडे निज खटकर्म ।
साधु जन मुख मुँहपत्ति, बांधी है जिन धर्म ॥

इस दोहे में कितने खुले शब्दो में मुँहपर मुखवस्त्रिका बांधने का कथन किया है? क्या अब भी किसी को कोई शंका हो सकती है कि मन्दिर मार्गी मुखवस्त्रिका को मुंहपर बांधने का समर्थन नहीं करते? कभी नहीं। यही क्यों और भी बहुत से प्रमाण हैं। देखिएगा! श्री हेमचन्द्राचार्यजी के रचनानुसार उदयरत्नजी ने अपने भाषा काव्य में ६६ वीं ढाल की चौथी गाथा में कहा है:—

" मुँहपत्तिए मुखबांधीरे, तुम बेशो छो जेम गुरुणी जी
तिमसुखडूदुबाईनेरे, विसाएकेम गुरुणीजी
साधु बिन संसार मेरे, क्यारे को दीठा क्या गुरुणीजी"

यदि पहले मन्दिरमार्गियों में मुखवस्त्रिका मुखपर बांधने की चाल न होती तो इस प्राचीन रचना में " मुखपत्तिए मुखवांधीरे' का वर्णन नहीं होता। बल्कि इसके स्थान में " मुँहपत्तिए हाथ राखीरे" का वर्णन किया जाता। और भी सामाचार्य के शिष्य विनयचन्द्रजी ने निजकृत "सुभद्रासती के पंच ढालिया नाम्नी पुस्तिका में इस प्रकार कहा है—

" तू जैन यति गुरु माने छे, तूं तप करे बहु छाने छे।
रहता से ले वाने छे ॥ २ ॥सु.
ते भिख्या ले घर अण जाणजी, नित पीता धोवण पाणी।

तूं श्रावका हुई सुणवाणी ॥ ३ ॥ सु.
तूं धर्म कारण मुँह बांधेछे पिण नयणां नयण तूं सांधेछे !
तू नचीती पति के खांधे छे ॥ ४ ॥ सु. ”

और कवि पुण्य विलास यतीजी ने “ मानतुङ्ग मानवती” का रास बनाया उसकी ४८ वीं ढाल के ऊपर दोहे में कहा है—

“ केइ भणे केइ अर्थ ले, केवांचे सूत्र सिद्धान्त ।
मुँहडे बांधी मुहपत्ती, मोटा साधु महन्त

यह तो हुई मन्दिरमार्गियों के धर्म गुरुओं के मत की बात अब इस ही संप्रदाय के श्रावकों की कथा भी सुन लीजिए

मुखवस्त्रिका पर मन्दिरमार्गी श्रावकों की सम्मतिएँ

मन्दिरमार्गी बान्धवों ! मुखवस्त्रिका को मुखपर बांधने के सम्बन्ध में हमने आपके माननीय सूत्रों, आर्षग्रन्थों, और धर्म गुरुओं की वाणी को ही हाथ में रख कर लम्बी लम्बी विवेचना की है । और वह इसलिए कि, आपको जब अपने ही ग्रन्थ हमारी दलीलों को सच्ची बतारहे हैं तो ऐसी दशा में मुखवस्त्रिका को मुखपर बांधने को मानने में आपको संदेह ही क्या हो सकता है ! कुछ नहीं ! अब मैं आप को यह बताने के लिये तैयार हूं कि, आपके श्रावक इस विषय में क्या कहते हैं ! देखिये ! ऋषभदासजी ने स्वनिर्मित ग्रन्थ “ हित शिक्षानो रास ” में इस प्रकार कहा है:—

“ मोन करी मुख बांधिए आठ पड मुखकोशो ”

उन्ही महाशय ने उक्त ग्रन्थ की द्वितीयावृत्ति में पुनः यों कहा है:—

" मुखे बांधी ते मुहपति, हेटे पाटो धारि।
अति हेठीं डाढ़ी थई; जोतर गले निवारी ॥ ३ ॥
एक काने धज सम कही, खंमे पछेड़ी ठाम।
केड़ी खोशी कोथली, नावे पुण्य ने काम ॥ ४ ॥

अर्थात् मुखवस्त्रिका तो वही है जो मुंहपर बांधी जाय। यदि वह मुख के नीचे रहे तो पाटे के समान होजाती है और ज़्यादह नीची लटकी रहे तो दाढी की समता करने लगजाती है। और गले में होतो 'जोत' सी दिखाई देती है। एक कान में लटकावें तो वह ध्वजा के सदृश होजाती है। कंधे पर रक्खी जाय तो वह पछेवड़ी सी दिखाई देगी। और यदि कमर में खोंसी जायगी तो कोथली कहलाएगी और इस तरह अन्य स्थानों में रखने से अर्थात् मुंहपर न बांधने से उसका पुण्य भी नहीं होगा।

अब हम अन्य मतावलम्बियों के ग्रन्थों के प्रमाण देकर भी इसकी सत्यता बताना चाहते हैं।

अन्यमतावलम्बियों के धर्मग्रन्थों से भीप्रमाण

ऊपर हम जैन ग्रन्थों के अनेक प्रमाण देकर पाठकों का संदेह दूर कर चुके हैं। परन्तु अब हम अन्य धर्मावलम्बियों के ग्रन्थों से भी प्रमाण उध्दृत करते हैं। जो विषय सर्व साधारण पर विदित होता है उसका उल्लेख अन्य धर्म्मों के ग्रन्थों में भी पाया जाता है; यही बात मुखवस्त्रिका के सम्बन्ध में भी है अर्थात् जैन श्वेताम्बर मुखवस्त्रिका मुंहपर बांधते हैं इसको सर्व धर्मावलम्बी जानते हैं।

चित्र परिचयके लिये, वन्दनेके लिये नहीं।



प्रसनचंद्र राजऋषिको ग.जसम्बन्धी वन्दना।

वैष्णवों के धर्म ग्रन्थों के प्रमाण

शिवपुराण के इक्कीसवें अध्याय के पच्चीसवें श्लोक में जैन-साधुओं का वर्णन इस प्रकार किया है।

" हस्ते पात्रं दधानश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः।
मलिनान्येव वासांसि, धारयन्तो ऽल्प भाषिणः॥ २५॥

अर्थात् जैन-साधु हाथों में पात्र और मुखपर वस्त्र धारण करनेवाले, मलीन वस्त्रवाले और अल्प भाषी होते हैं। और भी देखिए! श्रीमाल पुराण के तहत्तर वें अध्याय का ३२ वां श्लोक इस प्रकार है।

" मुखे दधानो मुखपत्तिं, बिभ्राणो दण्डकं करे।
शिरसो मुण्डनं कृत्वा, कुक्षौ च कुंजिकां दधत्॥ ३२॥

अर्थात् जैन मुनि मुखपर मुखवस्त्रिका बांधने वाले, वृद्धावस्था होने से दण्ड धारण करनेवाले और शिर मुंडाकर कांख में ओघा (जीवों की रक्षा के लिये एक ऊन का गुच्छा) रखने वाले होते हैं। इस के अतिरिक्त मुख पर मुखवस्त्रिका बांधने का प्रमाण 'अवतार चित्र' में इस प्रकार लिखा है :-

छन्द पद्धरी

नित कथा यज्ञ घातक निदान,
धरि नयन मूंदि अरिहंत ध्यान।
सब श्रावक पोषादि वश साधि,
मुखपट्टि रुद्ध अरंभ उपाधि॥

अर्थात् जैन मुनि प्रतिदिन कथा करनेवाले, पशुओं का

निषेध करनेवाले, नेत्र बन्द कर अरिहंत का ध्यान करनेवाले सब श्रावकों को पोषादि व्रत करानेवाले, मुखवस्त्रिका से मुँह बांधनेवाले. और पचन पाचन अग्नि आदि आरंभ से अलग रहनेवाले होते हैं।

जो बात शास्त्र सम्मत है और प्राचीन काल से प्रचलित है उसका वर्णन तो केवल जैन शास्त्रों में ही क्या किन्तु अन्य धर्मों के ग्रन्थों में भी विशद रूप से मिलता है। पाठक! अब तो आप जान ही गए हैं कि, वैष्णवों के ग्रन्थ भी मुखवस्त्रिका मुँहपर बांधने की शहादत दे रहे हैं। इस से बढ़कर हमारी सत्यता का उदाहरण और क्या हो सकता है? आप ही कहिए?

भिन्न २ मतावलम्बी यूरोपियन सज्जनों की साक्षी

अब हम विदेशी विद्वानों एवम् भिन्न भिन्न मतावलम्बियों की राय इस विषय में क्या है, यह प्रगट करना चाहते हैं "दुनिया के धर्म" नामक पुस्तक में जॉन मेडिक एल. एल. डी. की सम्मति पृष्ठ १२८ पर उध्दृत है कि, "यति" लोग अपनी ज़िन्दगी को निहायत मुस्तकिल मिजाज़ी से बसर करते हैं। और वे अपने मुँह पर एक कपड़ा बांधे रखते हैं जो कि छोटे २ कीड़े वगैरः को अन्दर जाने से रोक देता है"।

फिर भी देखिये! "एन्साइक्लोपीडिया" नामक छटी पुस्तक के २६८ वें पृष्ट पर इस प्रकार लिखा है:—" यति लोग अपनी जिन्दगी निहायत सब्र और इस्तकलाल के साथ बसर करते हैं। और एक पतला कपड़ा मुंहपर बांधे रखते हैं और एकान्त में बैठे रहते हैं"।

इस ही प्रकार मिस्टर ए, एफ. रुड़लाफ होर्नले पी. एच डी. ने भी उपासक दशाङ्ग सूत्र का अनुवाद अंग्रेजी में किया है, उस पुस्तक के पृष्ठ ५१ पर १४४ वें नम्बर के नोट में उध्द्धृत है:—"मुखपति, जिसको संस्कृत में मुखपत्री कहते हैं अर्थात् मुख का ढकन। जिससे, सूक्ष्म जीव उड़ने वाले मुख के अन्दर प्रवेश न कर सकें इस लिये छोटासा कपड़ा मुख पर बांधते हैं, उसे मुखपति कहते हैं"

उपरोक्त प्रमाण कितने जबरदस्त हैं क्योंकि प्रथम तो उनके लेखक विदेशीय विद्वान हैं जिनको किसी का पक्ष नहीं दूसरा उन्होंने मन्दिर मार्गियों के यतियों (साधुओं) के लिये ही लिखा है। कहिये पाठक? अब भी क्या मन्दिरमार्गी साधु एवम् श्रावक मुखवस्त्रिका को मुँहपर बांधने से इनकार कर सकते है? कभी नहीं!

फिर देखिए! "भारत वर्ष का इतिहास" तीसरे और चौथे स्टैंण्डर्ड के लिये। जिसके पृष्ठ २६—२७ पर इस प्रकार का उल्लेख है:—

जैन मत और महावीर की कथा

जैन मत जैनी के तीन रत्न और तीन अनमोल [illegible] है। अर्थात् सम्यग् दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र! तीसरे रत्न में बुद्ध के पांच नियम हैं! १ झूठ नहीं बोलना २ चोरी नहीं करना ३ विषय वासना नहीं रखना ४ शुद्ध रहना ५ मन वचन और कर्म में स्थिर रहना ६ जीव हिंसा नहीं करना! पिछले नियमों का जैनी साधु बड़े यत्न से मानते हैं! वही छोटे से छोटे कीड़ों को भी वे नुकसान दें या मार न डालें इसलिए वे पानी को छान के पीते हैं! और चलते समय

झाड़ बुहार के आगे पाँव धरते हैं! कहीं सांस लेने में कोई कीट पतंग मुँह में न चला जावे इसलिए वे अपने मुँहको कपड़े से ढांके रहते हैं " शास्त्रीय एवम् अनेक ग्रन्थों के प्रमाण देने में हमने कोइ बात उठा नहीं रखी परन्तु अब हम प्राचीन चित्रों के जो ब्लाक चित्र तैयार कराए हैं वे पाठकों के आगे रखना चाहते हैं।

चित्रों द्वारा प्रमाण

पाठकों को यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि, संसार में चित्र कितने मूल्य की वस्तु है। पुरातत्व वेत्ताओं को चित्रों एवम् शिलालेखों ने ही प्राचीन इतिहास का विशेष पता दिया है। इतिहास को अंधकार से प्रकाश में लाने के लिए चित्रों ने जितनी मदद की है उतनी किसीने नहीं। यदि प्राचीन चित्र उपलब्ध न हुए होते तो यह पता कहां से चलता, कि, किस समय कैसा वेष था और किस धर्म के लोग किस तरह का पहनाव रखते थे। और यह चित्र किस समय का है इत्यादि।

हमारे कथन का यह भाव है कि, चित्र सामाजिक परिस्थिति के अनुकूल बनते हैं। अर्थात् जिस समय जैसी वेष भूषा समाज में होती है उसके अनुकूल ही चित्र बनते हैं। और इसीलिए समय और इतिहास की खोज में लोग चित्रों को बहुत प्रमाणिक मानते हैं।

हम भी मन्दिर मार्गीय साधु एवम् श्रावकों और अन्य पाठकों के सम्मुख आज वैसे ही प्राचीन चित्र रखरहे हैं जो

मुखवस्त्रिका को मुख पर बांधने का प्रमाण देंगे। यदि पूर्व काल में मुखवस्त्रिका मुखपर न बांधी जाती तो ऐसे चित्र कैसे तैयार हो सकते थे? और इस का मन्दिर मार्गियों के पास क्या जवाब है? वे इन चित्रों को झूठे प्रमाणित नहीं कर सकते।

वाचक वर्ग! चित्र नम्बर १ को देखिए! यह चित्र सन् १९११ की अप्रेल मास की 'सरस्वती' के पृष्ठ २०४ के चित्र का ब्लाक तैयार होकर छपा है। यह चित्र सप्तदश आचार्यों* का है। इसमें का बारहवां चित्र आदिनाथ अर्थात् भगवान् ऋषभदेव का है जिनके मुखारविन्द पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई है। कई चित्र, चरित्र और कथा के आधार पर चरित्र नायक के देहावसान के पीछे भी तैयार होते हैं इसको हम मानते हैं। परन्तु चित्रकार लोग चित्र प्राचीन ग्रन्थों में जैसा वर्णन मिलता है उसी के अनुसार बनाते हैं। उसमें आकृति भले ही ठीक नहीं मिलती हो परन्तु वेष-विन्यास में कुछ फर्क नहीं रहता है। इसी प्रकार उपरोक्त चित्र भी काल्पनिक है परन्तु हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है, कि पहले मुखवस्त्रिका मुंहपर साधु सन्त बांधते थे तभी तो इस चित्रकारने भी मुंह पर मुखवस्त्रिका बंधे हुए चित्र का दृश्य दिखलाया। मुखवस्त्रिका मुंहपर

* आदिनाथ भगवान् के ऊपर हमने अपनी ओर से अक्षर लगा दिये हैं। यह भूल तो 'सरस्वती' सम्पादक की है। हमने तो चित्र जिस रूप में छपा उसके उसीके अनुसार केवल मुखवस्त्रिका के प्रमाणार्थ दिया है।

वांधी जाती है, इसको मानने में मन्दिर मार्गियों को क्या पशोपेश हो सकता है! आप ही कहिए,

पुनः प्राचीन समय में वलायत की 'जयराज' नामक कोई कम्पनी थी और उसके वस्त्र भारत में आते थे। उसका एक चित्र प्राप्त हुआ है। उसका भी हमने ब्लाक तैयार करवाया है, जो कि नम्बर दो का है। इस चित्र में दिखाया गया है कि भगवान् आदिनाथ के पुत्र महात्मा वाहुवली जी खडे हैं और मुख पर मुखवस्त्रिका वंधी है, पास में रजोहरण पड़ा है। एक ओर उन की वहिन ब्राह्मीजी और सुन्दरीजी कर जोरे प्रार्थना कर रही हैं, कि आप मान के हाथी पर आरुढ़ न होकर अपने भ्राता के पास जाइए! उन साध्वियों के मुंहपर भी मुखवस्त्रिकाएं वंधी हुई हैं। इस को भी क्या मन्दिरमार्गी आज का चित्र कह देंगें! संभव नहीं!

पुनः इसी कम्पनी-के दो और चित्र ब्लाक संख्या ३ और ४ के देखिए!

नम्वर ३ का चित्र—ध्यानावस्थित 'गजसुखमाल' जी का है, जो कृष्ण महाराज के छोटे भ्राता थे। इसमें यह वतलाया है कि, एक पुरुष इनके शिर पर मृत्तिका का आलवाल वनाकर उसके भीतर अंगारे भर रहा है। अंगारे भरने वाला पुरुष कौन है! और उसके इस प्रकार के अत्याचारका क्या कारण है! यह वतलाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी लिये कि प्रथम तो इस कथा का वर्णन इस में अप्रासंगिक होगा। द्वितीय इनकी कथा प्रसिद्ध है। इसी अवसर पर इनको निर्वाण पद प्राप्त हुआ था और जिसको

श्वेताम्बर जैन सब ही जानते हैं। हमारा अभीष्ट तो इस चित्र से यहां पर यही है कि, महात्मा गजसुखमालजी के मुंह पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई है।

इसी प्रकार नम्बर ४ का चित्र—ध्यानारूढ़ 'प्रश्नचन्द्रराज' ऋषि का है। पास में दो सामन्त मित्र खड़े हैं। ये दोनों महर्षि को ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु इस कथा के कथन की भी हमें आवश्यकता नहीं है। हम जो इस में बतलाना चाहते हैं वह यही है कि, उपरोक्त ऋषि के मुखपर मुखवस्त्रिका बंधी हुई है।

इसके अतिरिक्त जीर्ण भण्डारों से जो चित्र निकलते हैं उनमें भी साधुओं के मुंहपर मुखवस्त्रिकाएं बंधी हुई हैं। एक चित्र में (जो ५ नम्बर का ब्लाक इस में लगा है) यह वह दृश्य है कि, एक नटनी पर आसक्त होनेवाला धनदत्त सेठ का पुत्र नाट्य मंडली में सम्मिलित होकर किसी राजा के सन्मुख अपनी नट विद्या दिखा रहा है। उस अवसर पर मुखवस्त्रिका धारण किये हुए दो तपोनिष्ट साधु एक गृहस्थ के घर से भित्ताशन ग्रहण कर रहे थे। उन्हे देख सेठ पुत्र को वैराग्य उत्पन्न हुआ था। यह चित्र भी मुखवस्त्रिका मुखपर बांधने का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रहा है।

और भी चित्र नं० ६ देखिए! सूत्रों के वर्णनानुसार महावीर पाण्डव दीक्षित होकर हिमालयकी उपत्यका में तटनी की बालुका पर संथारा लेकर (संयम से) लेटे हुए हैं। पास में एक २ ओघा और एक २ झोली है। और सभी के मुंहपर मुखवस्त्रिकाएं बंधी हुई हैं।

एक और उदाहरण लीजिये ! चित्रशाला प्रेस पूना से प्रकाशित होनेवाली "सचित्र अक्षर लिपि" नाम्नी पुस्तक में जो यति का चित्र दिया है वह भी प्राचीन आदर्श के अनुसार बना है, अर्थात् यति के मुंह पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई है देखिए ब्लाक चित्र नम्बर ७ ।

कहिए पाठक ! क्या अब भी किसी प्रमाण की आवश्यकता है ! हर प्रकार से हम यह साबित कर चुके हैं, कि मुखवस्त्रिका मुंख पर बांधने ही की वस्तु है हाथ में रख ने की नहीं। और साथ ही हम यह भी समझा चुके हैं, कि इसको हाथ में रखने से कोई लाभ नहीं । अब हम आगे मुखवस्त्रिका को मुखपर बांधने में स्वास्थ्य की दृष्टि से क्या २ लाभ हैं यह बतलायेंगे ।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी लाभ

मुखवस्त्रिका का उद्देश्य प्राणियों की रक्षा का तो है ही परन्तु इससे स्वास्थ्य-दृष्टि से भी बहुत लाभ हैं। अर्थात् इसके मुखपर बंधी रहने से जो मनुष्य मुख के द्वारा भी श्वास लेते हैं वे अनेक भयानक रोगों से बचजाते हैं जिन के प्रमाणार्थ नीचे कई डाक्टरों की राय उध्दृत करते हैं ।

Doctor James Cout Ph. D., F. A. S. writes.

"By an effort of the Will in the one direction exercised in the private and in public, Keep the mouth shut and breathe through the rose.

चित्र परिचयके लिये, वन्दनेके लिये नहीं।



[illegible] धारते हुवे [illegible] कुवर शान्त स्वभावी मुनिश्रीके [illegible]

" There is nothing very occult or mysterious about this direction. In fact, it is very prosaic and common-place. But if you want to ward off disease, increase your vital and virile energies, increase the purity of your blood, stimulate as well as perfect the heart's action, and supply the brain and the sensory, motor,: and vegetative or sympathetic nervous systems with the materials necessary to do their work "Keep the mouth shut" and breathe through the nose. That conduces to health, " self control," and well-being......And last, though not least, the " Will to do and dare and the grit to accomplish things is perfected thereby."......Suffice it to say, you will notice that all really strong and able men, men of force, firmness, strength of will, and dominating their fellows, and who, within historic times, and within your our experience, made their mark in science, Politics, religions, the army or commerce, have been and are " Physically and mentally too"-men who have " Kept the mouth shut" ......Keep your mouth shut, and only open it when you want to clean your teeth, partake [illegible] speak, and then only when you have thought [illegible]

and the motive what you are to say. No more "implusive spurts," no words of anger or impatience, and wounded self conceit. The open mouthed may have many good qualities yet they have no "tenacity and staying Power."......The lack of success is due to want of one of the first essentials of self control, "reserve" the silent tongue physiognomically indicated by the shut mouth.

"Now if the vital powers are improved, health maintained and conserved, disease resisted, life made more enjoyable and prolonged, by the simple expedient of keeping the "mouth shut," is it not well worth trial? If you add to this that the practice conduces to Firmness, Decision, Perseverance, Fortitude, Concentration, and strength of will, the "exercise" becomes a delightful and pleasant 'necessity'. At once commence the practice, then by perseverance and constant watchfulness it will become 'second nature' automatic and will be carried out without the conscious supervision of the ordinary every day mind.'

❀ ❀ ❀ ❀

उक्त इङ्गलिश का हिन्दी अनुवाद

डाक्टर जेम्स स्काट साहब फरमाते हैं "सूरत या ज़मीर या चैतन्य को एकस्थित करने के लिए मुंह को बन्द कर नाक द्वारा सांस लेना यह पहला नियम है। इस नियम में कोई छिपा हुआ भेद नहीं है। वास्तव में यह कोई कठिन बात भी नहीं है। यदि आप चाहते हों कि हम स्वस्थ हो जायं, हमारी मस्तिष्क-शक्ति बहुत अधिक बढ़जाय, (आंतरिक और बाह्य दोनों ही) शरीर में पवित्र साफ खून पैदा हो, चित्त में स्थैर्यता उत्पन्न हो, मस्तिष्क की चैतन्यता और विचार शक्ति की स्थिरता, शरीर की सम्पूर्ण अस्थियों और जालों की मजबूती इत्यादि बातें चाहते हों तो आप श्वास नाक के द्वारा लेने का नियम स्वीकार करें। यह नियम तन्दुरस्ती और इस्तकलाल को ताकत देता है, और बढ़ादेता है। यह चित्त की स्थिरता में भंग डालने वाले नियमों को-विचारों को कूड़ा करकट की भांति नीचे बिठा देता है।

आप जानते होंगे कि जितने उच्च मस्तिष्क, बलवान या संतोषी और अपनी बात के धनी ऐतिहासिक समय में मेरे और आपके अनुभव से विद्वान, राजनीतिक धार्मिक शूर-वीर और व्यापारी हुए हैं। और उन्नत बने हैं। वे केवल संतोष से, खामोशी अख्तियार करने से। मुंह को हमेशा बन्द रखो। सिर्फ उस वक़्त खोलो जबकि तुम्हें खाना खाना हो या दांतों को साफ करना हो अथवा किसीसे बात चीत करनी हो। उस वक़्त मत खोलो जब कि तुम्हारे मुंह से कोई बात निकली

निकलने को हो जिससे कि हृदय धड़कने लगे । और तबि-यत पर रंज आय। मुंह को खुला रखने में कई सूरतें बहतरी की हैं,लेकिन वह कायमुल मिजाजी करार दिल में हो तो कामयाबी (सफलता) की पहली सीढ़ी दिल के करार के साथ जबान रोकना या खामोशी है।

वैद्यक विधान से भी मुंह को बन्द करना चाहिए। मुंह के बन्द करने से दिमाग में रोशनी और शारीरिक तंदुरस्ती बढ़ जाती है। ज़िन्दगी आराम से गुजरने लगती है। यदि आप इन सब बातों से भी अधिक लाभ चाहते हों तो विश्वास बल अर्थात् खयाल का जमाना संतोष और इस्तकलाल दिलेरी और दिल को कायम रखने को हाथ से न छोड़ें। जब आपको इस ताकत के बढ़ाने में कुछ मजा और खुशी हासिल होने लगेगी तो सूरत या इन्सान का बोलना इस नाम को छोड़ कर दूसरे नामसे मोसूम हो सकता है यानी कहलाई जा सकती है। अर्थात् परमात्मा से मिल जाना या परमात्मा कह लाना।

पुनः अन्य अंग्रेज विद्वानों की सम्मतियें पढ़िये.

The religions of the world by John Murdock. L. L. D. 1902 page 128:—

" The yati has to lead a life of continence; he should wear a thin cloth over his mouth to prevent insects from flying into it. "

Chamber's Encyclopaedia Volume VI London 1906, Page 268 :—

" The yati to lead the life of abstinence and continence, he should wear a thin cloth over his mouth...Sit. "

Mr, A. F. Rudolf Hoernle Ph. D. Tubingen, in his English translation of Upasagadasang, Vol. II. Page 51, Note No. 144, writes

" Text muhapatti, Skr. mukha Patri. 'lit, a leaf for the mouth,' a small piece of cloth, suspended over the mouth to protect it against the entrance of any living thing.

A light of Jain principles to the public health.

The principle of applying Muhpatti i. e. the covering over the mouth. is to protect the living germs that are present in the atmosphere: but as regards the medical point of view the covering over the mouth is also to protect ourselves from many diseases which are due to impurities of air:—

table tissues. The effects depend on the amount inhaled and on the physical conditions of the particles, whether sharp—pointed or rough etc They always injure health and the principal affections arising therefrom are cattarrh, Bronchitis, Fibroid, Pneumonia Asthma and Emphysema. The most important symptoms of lung diseases produced by inhalation of dust are Dyspnea and Expetoration.

Effects of suspended impurities:—

Workers in rags and wool suffer similarly from dust. Dust from fleeces of wool has caused Anthrax. Mill—stone cutters, stone—masons, pearl cutters, sand—paper makers, knife—grinders millers, hair—dressers, miners fur-dyers, weavers etc. all suffer from diseases of lungs caused by the inhalation of dust and other suspended matters. Brass—founders inhale fumes of oxide of zinc and suffer from diarrhea, Cramp etc. Match-makers inhale fumes of phosphorus and suffer from necrosis of the lower jaw. Besides these, infective matter from diseases like Typhoid fever, Measles, Small-pox, Tuber-

culosis etc. are disseminated through the air probably always in the form of dust.

8. *Effects of gases and volatile effluvia:*

(a) Hydrochloric acid vapour causes irritation of lungs and diseases of eye.

(b) Carbon disulphide vapours cause headache, muscular pain and depression of the nervous system.

(c) Ammonia causing irritation of conjuntiva.

(d) Carburatted Hydrogen causing headache, vomiting, convulsions etc. when inhaled in large quantity.

(e) Carbon monoxide imparts a cherry red colour to the blood, and by interfering with oxygenation, may cause diarrhœa, headache, nausea, muscular and nervous depression.

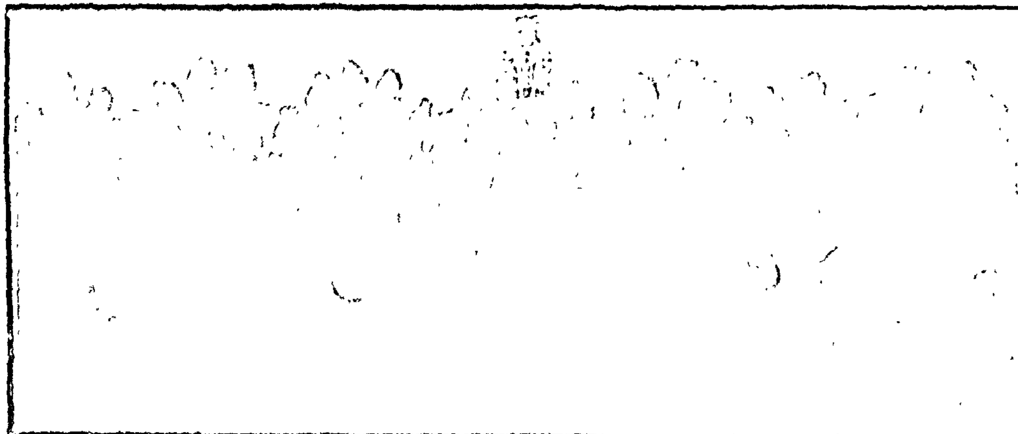
intestinal effects, sure throat, diphtheria, aneamia and constant ill-health. Diseases like cholera, enteric fever erysipelas, measles scarlet fever etc. are aggravated by sewer gas.

4 Effects from decomposing organic carcases cause out-breaks of diarrhea and dysentery.

Therefore, gentlemen, pure air is absolutely necessary for healthy life, and perfect health can only by maintained, when in addition to other requirements, there is an abundant supply of pure air. Every one is aware that while starvation kills after days, deprivation of air kills in a few minutes, Health and disease are in direct proportion to the purity or otherwise of ill-health being largely due to impurities of the air. Hence to apply Muhpatti over the mouth is taught by three great authorities:—Nature, jain principles and medical view

(1) Nature teaches human beings to avoid them selves from the direct attack of diseases i. e. for example, whenever we pass by the side of discomposing carcas, at once our brain

(चित्र परिचय के लिये, वन्दनेके लिये नहीं)



ders our hand to search out for a hand-kerchief and to apply over the mouth and nose so that bed nuisance may not injure the health.

(2) Jain principles teach us to apply MUHAPATTI is already discussed in Shastras.

(3) Medical teaches us to avoid from all the diseases which can be acquired from air and dus is already discu-sed above.

Some of my friends will agree that why MUHAPATTI should not be applied to nose, I: ause nose is an organ of respiration. The reply is the nature has furnished the nose with lair whi lia e the guard of foreign-bo iy from the ou:side

हिन्दी अनुवादः--

जैन सिद्धान्तों की दृष्टि से स्वास्थ्य रक्षा पर विचार.

मुंह पत्ति धारण करने का (मुंह पर वस्त्र बांधने का) उद्देश यह है कि वायु में जो सजीव प्राणी रहते हैं, उनकी रक्षा हो. और आयुर्वेद की दृष्टि से भी वायु में अनेक रजादिकों रहने के कारण जो बीमारियां पैदा होती हैं उन बीमारियों से अपने शरीर की रक्षा इस मुख वस्त्रिका के धारण करने से हो सकती है।

म्बन्धी अनेक पदार्थ रहते हैं यथाः--एफि थेलिया, ऊन या रूई के रेशे व सजीव प्राणियों के निर्जीव शव के टुकड़े व सचित वस्तु के शरीर सम्बन्धी नसें व आतें या हड्डियों के टुकड़े।

इन सव खरावियों का असर श्वासोच्छ्वास के न्यूनाधिक परिमाण पर व इन वस्तुओं की प्राकृतिक दशा पर निर्भर है। (अर्थात् ये वस्तुएं तीखी नोक वाली हैं, या वोठी नोक वाली इत्यादि).

ये सदा अपने स्वास्थ्य को विगाड़ देती हैं,और इनसे मुख्य वीमारियां केटेरा, ब्रोंकाइटिस, फिवरोइड, निमोनिया,एस्थमा, इम्फिसिमा इत्यादि पैदा होती हैं।

रेणु मिश्र वायु के सेवन से फफड़े की वीमारियों के खास चिन्ह डिस्प्निया तथा पिटोरेशन हैं।

२ वायु आश्रित रही हुई अन्य खरावियों का असर--

इसी भांति चिथड़ों में व ऊन में काम करने वाले रज से हानि उठाते हैं। ऊन के गुच्छों की धूल से एन्थ्रेक्स पैदा होता है। घट्टी टांचने या सिलावट, मोती काटने वाले या रेजमाल कागज वनाने वाले, चाकू सुधारने वाले, चक्की चलाने वाले, वाल काटने वाले, खान खोदने वाले, ऊन रंगने वाले,कपड़ा वुननेवाले आदि सव रज मिश्रित दूसरे परमाणु युक्त वायु के सेवन से फेफड़े सम्बन्धी अनेक वीमारियों से पीड़ित रहते हैं। उदाहरणार्थः- पीतल वनाने वाले जस्त (zinc) आक्साइड (oxide) के कणका श्वास लेते हैं। और उनको डायरिया या क्रम्प (cramp) हो जाता है। दियासलाई वनाने वाले फास्फरस की चिनगारियों का श्वास लेते हैं, और उनके जवड़ों में नेक्रोसीस हो जाता है। इनके सिवाय चेपी रोग भी लागू हो जाते हैं।

टाईफाइड, ज्वर, मस्स माता, टयूवर कोलिस इत्यादि जो में हमेशा रजरूप में वितरित होते हैं।

३-हवा में गन्दगी व अन्य मैली हवाओं का असरः-

(अ) हाइड्रो क्लोरिक एसिड की भाप फेफड़ों को बिगाड़ती है, और नेत्रों के रोग पैदा करती है।

(ब) कारबन डायाक्साइड (Dioxide) की भाप मस्तिष्क या नसों में दर्द व रगों में शिथिलता पैदा करती है।

(स , एमोनिया (कंजक्टाइवा) में दुर्विकार उत्पन्न करता है।

(इ) कारब्यूरेटेड हाईड्रोजन मस्तिष्क वमन, ऐंठन, इत्यादि(जब ज्यादा परिमाण में सूंघ लिया जायतो)पैदा करती है।

(ई) कारबन मोनोक्साइड खून का रंग हलका लाल कर देता है, और आक्सीजनेशन के मिलने से डाइरिया, मस्तिष्कनोसिस (उलटी) नसों में तथा रगों में शिथिलता पैदा करता है।

ईटों के अवाड़े की हवा दुर्गन्ध पदार्थों के व्यापार की हवा चर्बी की फेक्टरियों की हवा, आंते साफ करने की हवा, हड्डियों को उबालने की हवा, कागज बनाने की हवा, नालों व गटर की हवा से डायरिया, आंतों में दुर्विकार, कुष्ट रोग, डिप्थोरिया, एनिमिया, और सदा-कुस्वास्थ्य का रहना इत्यादिबीमारियां होती हैं। परनालों की तथा गटर की हवा से हैजा, पाशिव ज्वर, एरिस.पिलस, मल, लाल बुखार इत्यादि बीमारियां बढ़जाती हैं।

४-प्राणियों के सड़ते हुए शरीरों की हवा से डायरिया या डिसन्ट्री पैदा हो जाती है।

अतः सज्जन गण ! स्वास्थ्य रक्षा के हेतु शुद्ध व स्वच्छ वायु अत्यावश्यक है। स्वास्थ्य अच्छा तब ही रह सकता है, जब अन्य पदार्थों के सिवाय शुद्ध हवा का परिपूर्ण भाग विद्यमान है। यह बात हर एक को विदित है कि यदि भूखों

मरना अपने अन्तिम जीवन को क्षय करना है। परन्तु वायु से वंचित रहना तो थोड़े ही समय में तमाम काम (जीवन) खतम कर देता है।

अच्छा स्वास्थ्य शुद्ध हवा पर उतना ही अधिक निर्भर है, जितनी अधिक गन्दगियों से बीमारियां पैदा होती हैं। अर्थात् जितनी ज्यादह वायु में खराबियां रहती हैं, उतनी अधिक बीमारियां भी पैदा होती हैं। इसलिये मुंह पर वस्त्र धारण करना इन तीन सिद्धान्तों से पुष्ट होता है। प्राकृतिक, जैन और वैद्यक।

(१) प्रकृति प्राणी मात्र को बीमारियों से रक्षा करना सिखाती है। जैसे-यदि हम कहीं एक सड़ती हुई लाश के पास से होकर गुजरें तो एक दम अपना दिमाग अपने हाथ को जेबमें से रूमाल निकालने के लिये तथा उसको नाक से आड़ा लगाने के लिये प्रेरित करता है। ताकि दुर्गन्ध हवा स्वास्थ्य को न बिगाड़ दे।

(२) मुंहपत्ति को धारण करने के विषय में जैन शास्त्रों में परिपूर्ण रूप से व्याख्या तथा पुष्टि की गई है।

(३) वैद्यक शास्त्र भी हमको यही सिखाता है कि उपरोक्त वायु के आश्रित रेणु तथा दुर्गन्ध से जो बीमारियां पैदा होती हैं, उनसे अपने आपको बचाओ।

कतिपय मित्र यह तर्क करेंगे कि मुंहपत्ति को नाक पर क्यों नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि नाक भी तो वायु सेवन का द्वार है। उत्तर में इतना ही लिखना यथेष्ट है कि प्रकृति ने नाक में बाल रखे हैं। जिनसे बाहरी खराबियां रुक जाती हैं

"दुनियां के धर्म" अर्थात् दुनियां की मजहबी किताब जो कि "जॉनमर्डाक एल एल. डी १९९२ में लिखित पुस्तक के

१२८ वें पृष्ठ पर लिखते हैं, कि "यति लोग अपनी जिन्दगी को निहायत मुस्तकिल मिजाजी से बसर करते हैं और वह अपने मुंह पर एक कपड़ा बांधे रखते हैं, जो कि छोटे २ कीड़े वगैरः को अन्दर जाने से रोक देता है।

पुनः इन्साइक्लो पेडिया पुस्तक नं० ६ पृष्ठ नं० २६८ सन् १९०६ में लिखते हैं कि यति लोग अपनी जिन्दगी निहायत सबर और इस्तकलाल के साथ बसर करते हैं और एक पतला कपड़ा मुंह पर बांधे रहते हैं. और एकान्त में बैठे रहते हैं।

इसी प्रकार मिस्टर ए. एफ. रुडलाफ होर्नल पी. एच. डी- ट्यु विनजेन ने 'श्री उपासक दशांगजी' सूत्र का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया है. उस पुस्तक के पृष्ठ ५२ नोट नम्बर २९९ में वह निम्न लिखित प्रकार से है, पढ़िये।

"मुखपत्ति" जिसको संस्कृत में 'मुखपत्रि' अर्थात मुंह का ढक्कन जिससे सूक्ष्म जीव उड़ने वाले मुख के अन्दर प्रवेश न कर सकें, इसलिये छोटा, सा कपड़ा मुख पर बांधते हैं, उसे मुंह पत्ति कहते हैं।

पुनः देखिए! महात्मा मोहनदास करमचन्द गांधी लिखित आरोग्य दिग्दर्शन पृष्ठ १२५२ हवा के विषय में लिखते हैं कि (हमारी कुटेवों से हवा कैसे खराब होती है और उसे खराब होने से कैसे बचाया जा सकता है.

जो मुँह से ली जाय तो प्रायः सरदी हो जाती है, स्वर बैठ जाता है, हवा के साथ धूल के कण श्वास लेने वाले के फेफड़ों में घुस जाते हैं और फेफड़ों को बहुत नुकसान पहुँचाते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव विलायत के शहरों में तुरंत पड़ता है, वहां पर बहुत कल कारखानों के कारण नवम्बर मास में बहुत ही फौग—पीली धूमस-होती है। उसमें बारीक बारीक काले धूल के कण होते हैं। जो मनुष्य इस धूल के कण-भरी हवा को मुँह से लेते हैं उनके थूँक में वह देखने में आती है। ऐसा अनर्थ न होने के लिए बहुतसी स्त्रियाँ जिन्हें नाक से श्वास लेने की आदत नहीं होती चेहरे पर जाली बाँधे रहती हैं। यह जाली चलनी का काम देती है। इसमें होकर जो हवा जाती है वह साफ जाती है। इस जाली को काममें आये बाद देखा जाय तो उस में धूल के कण मिलते हैं। ऐसी ही चलनी परमात्माने हमारे नाक में रक्खी है। नाक से ली हुई हवा गरम होकर भीतर उतरती है। इस बात को ध्यान में रख कर प्रत्येक मनुष्य को नाक के द्वारा ही हवा लेना सीखना चाहिये। यह कुछ मुश्किल नहीं है। जिन्हें मुँह खुला रखने की आदत पड़ गई हो उन्हें मुंह पर पट्टी बांध कर रात में सोना चाहिये। इससे लाचार उन्हें नाक से ही श्वास लेना पड़ेगा।

वैद्यक की राह से भी आरोग्यता के लिये भी मुख बांधना अच्छा माना है।

परिशिष्ट

अब यह ग्रन्थ समाप्त होगया है परन्तु मेरे जो अन्तिम उद्गार हैं वे भी मैं अपने विचार शील पाठकों पर प्रकट कर देना चाहता हूं। पाठकों! और कामों में उच्छृङ्खलता विशेष [illegible] कर नहीं परन्तु धार्मिक उच्छृङ्खलता तो किसी प्रकार

भी अच्छी नहीं है। धार्मिक उच्छृङ्खलता से संसार में जितनी क्षति हुई है उतनी और किसी से भी नहीं हुई होगी, और उस क्षति की पूर्ति आज तक नहीं हुई।

वाममार्गियों के अश्लील आचरणों एवम् दूषित ग्रन्थों ने आज तिहाई हिस्से की दुनियां को पथ भ्रष्ट कर रक्खी है। महाराज वेण को हुए आज कई हजार वर्ष होगए हैं परन्तु उसकी निन्दनीय प्रथाओं का अन्त आज तक भी नहीं हुआ और जब तक उन्ही बातों से ग्रन्थों के पवित्र पृष्ठ रंगे हुए रहेंगे तब तक उन काअन्त होना कठिन ही नहीं बल्के असंभव है।

यह सब धार्मिक उच्छृङ्खलताओं के ही तो परिणाम हैं। मैं पहले ही कह चुका हूं कि, भारत वर्ष श्रद्धालु देश है। इस में अन्ध विश्वासियों का ही सदा से बाहुल्य रहा है। यहां पर समाज जिसको बड़ा आदमी मान लेता है फिर उसके कार्यों को वह आलोचना की दृष्टि से कभी नहीं देखता। चाहे वह किसी को तार दे, अथवा डुबो ही दे। चुपचाप उसका अनुगमन करना ही समाज का कर्तव्य हो जाता है। और इसी लिए तो इस उक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है "महाजनो येन गतः स पंथा" अर्थात् महापुरुष जिस ओर होकर गए वही मार्ग है। और यदि महापुरुष ही उच्छृङ्खल अथवा पथ भ्रष्ट हो जाएं तो समाज की क्या दशा होती है? यही न, कि समाज पथ भ्रष्ट होजाता है।

यह देश धर्म का क्रीड़ा क्षेत्र है। यूरोप, एशिया इत्यादि देशों को धर्म की दीक्षा पूर्व काल में यहीं से मिला करती थी। यहीं के ऋषि मुनि और साधु सन्त सबके गुरु थे। और वे लोग द्वीपान्तर में परिभ्रमण कर धर्म प्रचार किया

करते थे। परन्तु इस भारत भूमि में अनीश्वरवादी और उच्छृङ्खल धर्म नहीं ठहर सका। गौतम बुद्ध के सिद्धान्त कुछ ऊंचे थे परन्तु वे अनीश्वरवादी थे अतः अन्य देशों में वे भले ही अपने धर्म का झंडा गाड़ने में समर्थ हुए हों परन्तु भारत वर्ष में उनका झण्डा उखड़ गया। आज भारत में उनका अनुयायी शायद कोई हो।

इसीसे मैं कहता हूं कि धार्मिक उच्छृङ्खलता कभी किसी दशा में अच्छी नहीं है। सनातन जैन धर्म की नीव अहिंसा पर खड़ी है उसमें हिंसा का प्रचार करना नितान्त भूल और अदूर दर्शिता है।

मेरे मन्दिर मार्गीय साधु महात्माओं! सद्गृहस्थों!! आप लोग मुखवस्त्रिका को मुख पर नहीं बांधकर हाथ में रखने में बहुत बड़ी गलती कर रहे हैं। असंख्य अदृश्य प्राणियों की हत्या का दायित्व अपने ऊपर ले रहे हैं। कोई शास्त्र इसमें सहमत नहीं है फिर आप क्यों नहीं मानते हैं।

मैंने एक तरह से नहीं बल्कि हर तरह से सिद्ध कर दिया है कि मुखवस्त्रिका को मुख पर ही बांधना चाहिए। मैंने युक्तिवाद, शब्दार्थ, और शास्त्रों के निर्विवाद वीर वचन से साबित किया! आपके ग्रन्थों से साबित किया!! अन्यान्य धर्मावलम्बियों के ग्रन्थों से साबित किया!!! और साबित किया स्वास्थ्य की दृष्टि से। अर्थात् आयुर्वेद और डाक्टरी पुस्तकों से इसको लाभ दायक साबित किया है।

कई कुतर्कवादियों का कथन है कि, नाक वायु सेवन का मार्ग है उसमें कूड़ा छार आदि प्रवेश करजाएं इसलिए कुदरत ने उसमें बाल उगाए हैं। इसी प्रकार हानि की संभावना होती तो प्रकृति मुंह की आड़ के लिए भी जरूर कोई हे की पट्टी अथवा बालों की रचना करती।

इसका जवाब यह है कि, प्रकृति ने जो होठों की रचना की है वह मुंह का ढक्कन ही तो है। परन्तु कितनों ही की आदत मुंह खोलकर चलने की और मुंह से वायु ग्रहण करने की होती है ऐसी दशा में एक मुखवस्त्रिका ही दूषित वायु की रक्षा कर सकती है।

हम तार्किकों से यह पूछते हैं, कि कुदरत ने तो तुम्हारे शरीर का ढक्कन कुछ नहीं बनाया और तुम कपड़े क्यों पहनते हो? पदरक्षा(पगरखी)इत्यादि की तुम्हें क्या आवश्यकता है?

मनुष्य मात्र का धर्म है कि प्रकृति के कामों में मदद करे। गन्दी हवा के परिहारार्थ सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। वर्षा शीत घाम की रक्षा के लिये नये २ प्रकार के मकानों और वस्त्र आदि पदार्थों की मनुष्य रचना करते हैं। यह प्रकृति की मदद नहीं तो और क्या है?

हम लोगों का कार्य्य समाज और जाति को उन्नति के मार्गों में प्रवृत्त करने और उनको धर्माचरण की शिक्षा देने का है। उसका पालन यथाशक्ति मैंने भी किया है अर्थात् एक उपयोगी विषय पाठकों को समझाने का प्रयत्न किया है। इसलिए कि उनको भूले हुए मार्ग में लाने का प्रयत्न किया है। परन्तु यदि इसके बदले में वे क्रोधित होकर मुझे गालियां देंगे तो मेरा क्या बिगाड़ है उनकी क्षमता और उदारता प्रकट होगी।

अब मैं अपने प्यारे पाठक पाठिकाओं से प्रार्थना करता हूं कि मेरे शब्दों में कहीं कठोरता आगई हो तो आप लोग उन शब्दों के विनम्र और हितकारी भावों की ओर ही ध्यान करते हुए मुझे क्षमा करदें।

ॐ ! शान्ति !! शान्ति !!! शान्ति

॥ श्री ॥

खुश खबर ।

सर्व सज्जनों को विदित हो कि वैशाख सुदि ५ संवत् १९८६ को श्रीजैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति ने "श्रीजैनोदय प्रिंटिंग प्रेस" के नाम से एक प्रेस कायम किया है । इस प्रेस में हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, मराठी का काम बहुत अच्छा और स्वच्छ तथा सुन्दर छापकर ठीक समय प[र] दिया जाता है । छपाई के चारज़ेज़ वगैरा भ[ी] किफायत से लिये जाते हैं ।

अतःएव धर्म प्रेमी सज्जन, छपाई का काम भेजकर धर्म परिचय देने की कृपा करेंगे, ऐसी आशा है ।

निवेदकः–

मैनेजर

श्रीजैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,

रतलाम.

ॐ

स्थानकवासी

लेखक

जैनधर्म-दिवाकर, जैनागम-रत्नाकर, साहित्यरत्न,

जैन-मुनि

१००८ उपाध्याय श्रीआत्मारामजी महाराज पंजाबी

प्रकाशक

लाला वलायती राम कस्तूरी लाल जैन

पेपर मर्चेंटस्, लुधियाना.

धन्यवाद

इस पुस्तक का प्रकाशन लाला वलायती राम कस्तूरी लालजी जैन, पेपर मर्चेंटस्, लुधियाना, ने अपने निजी खर्च से किया है। मैं आपकी उदारता के लिए आपको धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि अन्य उदारचेता धनिक सज्जनवृन्द भी लाला साहब का अनुकरण करते हुए धार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन कर पुण्य के भागी बनेगें।

लुधियाना
४-१०-४२

गुज्जरमल्ल जैन

मुद्रक
ओमप्रकाश कपूर
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस
बनारस (१६-४२)

प्रस्तावना

प्रिय सुज्ञ पुरुषो ! आध्यात्मिक विकाश के बाह्य साधनों में शुद्ध, शान्त, पवित्र स्थानक का भी बड़ा भारी महत्त्व है। यदि स्थानक अनुकूल न हो तो जीवन की पवित्रता में पद-पद पर बाधाएँ उपस्थित होती हैं; फलतः मानसिक शान्ति भंग होने लगती है, जीवन में विकार पैठने लगते हैं।

यद्यपि[1] आगमों में समाधिके चार स्थान बतलाए हैं—विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपःसमाधि, आचारसमाधि। ये चार स्थान जीवन में आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिए बड़े महत्त्व के हैं, तथापि उक्त स्थानों की प्राप्ति के लिए द्रव्य और भाव स्थानकों की आवश्यकता होती है।

प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। समय-समय पर जब वह अपने और रूपों में परिवर्तन पाती है तो अपना अभिधेय भी परिवर्तन कर लेती है। जैनधर्म के नाम को ही लीजिए। जैनमत का प्रथम नाम निर्ग्रन्थ[2] प्रवचन अथवा निर्ग्रन्थमत प्रसिद्ध रहा है। पश्चात् आचार्यवर्य सय्यंभव स्वामी के

समय जैनमत[3] प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार समय-समय पर अन्य गुण निष्पन्न नाम भी आगमों के आधार पर प्रचलित होते रहे हैं।

प्रस्तुत छोटी सी पुस्तक में इसी दृष्टि से विचार विमर्श किया है कि स्थानकवासी शब्द आगमों में किस अर्थ में व्यवहृत हुआ है और यह शब्द कितने महत्त्व का है? आत्मविकाश के लिए इस शब्द की कितनी आवश्यकता है? इतना ही नहीं, इस पुस्तक के अध्ययन करने से प्रत्येक मुमुक्षु को निश्चित हो जायगा कि—भाव स्थानकवासी[4] बनने से ही उत्तम स्थानक को प्राप्ति हो सकती है। शाखा और प्रतिशाखाओं से ही वृक्ष का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है। ठीक इसी प्रकार जैनधर्मरूपी वृक्ष भी अनेक शाखाओं और प्रतिशाखाओं से युक्त होने पर ही सौन्दर्य प्राप्त करता है। ध्यान रहे कि शाखा प्रतिशाखा में परस्पर असूया, निन्दा, द्वेष, कलह, ईर्ष्या और वैमनस्य आदि न हों। अनेकान्तवाद किंवा स्याद्वाद तथा उत्सर्ग अपवाद आदि के समन्वयविधायक दृष्टिकोणों को लक्ष्य में रखकर प्रत्येक शाखा और प्रतिशाखा में परस्पर प्रेम, मैत्री भावना, पारस्परिक गुणानुवाद, सहानुभूति, धर्मप्रचार आदि क्रियाएँ हों, तभी जैनमत के सिद्धान्तों का जनता में भलीभाँति प्रचार हो सकता है। इस पुस्तक में निष्पक्ष दृष्टि तथा स्याद्वाद के आश्रित होकर स्थानकवासी शब्द का विचार किया गया है। आशा है, पाठकजन द्रव्य स्थानकवासी के साथ-साथ भाव स्थानकवासी बनने की चेष्टा करेंगे ताकि वे निर्वाण-प्राप्ति के अधिकारी हों।

अलं विद्वत्सु

जैनमुनि उपाध्याय आत्माराम

---

३ जिणमयनिउणे अभिगमकुसले—दशवै० ६, ३, १५

४ लोगुत्तमुत्तमं ठाणं सिद्धिं गच्छसि नीरओ।

—उत्तराध्ययन ६, ५८

णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

स्थानकवासी

श्वेताम्बर जैन परम्परा में मूर्तिपूजा को आगम विहित न माननेवाला जो सम्प्रदाय है, वह स्थानकवासी नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय का स्थानकवासी नाम कब और क्यों पड़ा, इसके विषय में ऐतिहासिक तथ्य चाहे कुछ भी हो, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इसका विचार करते हुए जो तथ्य प्रतीत हुआ है, उसका दिग्दर्शन कराने के लिये हमारा यह उद्योग है। आशा है, पाठकगण शान्तिपूर्वक इसका अवलोकन करेंगे।

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करते हुए प्रतीत होता है कि स्थानकवासी शब्द द्रव्य और भाव दोनों ही अर्थों को लेकर प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का प्रयोग पहले एकमात्र परम त्यागी जैन साधुओं में ही होता था और बाद में यह तदनुयायी वर्ग में भी प्रयुक्त होने लगा। जैसे जैन परम्परा में श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों

शब्दों का सम्बन्ध एकमात्र साधु वर्ग से ही था और बाद में वह दोनों सम्प्रदायों में रूढ़ हो गया, इसी प्रकार संयम-रूप स्थान में निवास करनेवाले साधु वर्ग में प्रयुक्त होने-वाला स्थानकवासी शब्द, बाद में उसके अनुयायी वर्ग में प्रयुक्त होने से सारे सम्प्रदाय का ही इस नाम से उल्लेख होने लगा।

स्थानकवासी इस समस्त पद में स्थानक और वासी ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। स्थानक और स्थान ये दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं। स्थान शब्द का अर्थ है ठहरने की जगह और वासीका अर्थ है उसमें निवास करने-वाला। 'स्थीयते अस्मिन्निति स्थानं, स्थानं एवेति स्थानकं, स्थानके वसतीति स्थानकवासी' ❀ अर्थात् शास्त्रविहित द्रव्य और भाव रूप स्थान में निवास करनेवाला स्थानक-वासी कहा व माना जाता है।

कोशादि में स्थान शब्द के अनेक अर्थ देखने में आते हैं। उनमें द्रव्य और भाव रूप दोनों स्थानों का ग्रहण

❀ स्था धातु से "करणाधारे चानट् [४।४।९ शा० व्या०] इस सूत्र से अनट् प्रत्यय होकर स्थान शब्द सिद्ध होता है यथा स्थीयते अस्मिन्निति स्थानम्, फिर स्वार्थ में क प्रत्यय होकर स्थानक बना तथा वास शब्द से शीलेज्ञातेः इस सूत्र द्वारा णित् प्रत्यय होकर वासी शब्द बना, वसति तच्छील इति वासी।

किया गया है ❀ और प्रस्तुत प्रकरण में दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। इसलिये यहाँ पर क्रमशः दोनों का ही विचार किया जाता है।

द्रव्य स्थानक

यद्यपि स्थान-स्थानक शब्द का प्रसिद्ध अर्थ अमुक प्रकारका क्षेत्र, भूमि या निवास करने की जगह

❀ जैनागम-शब्दसंग्रह नाम के अर्द्धमागधी-गुजराती कोश में 'स्थान' शब्द के निम्नलिखित १९ अर्थ दिये हैं:—

ठाण-स्थान, पुं. न. (१) स्थान, ठेकाणुं, जगा, मकान, (२) काउसग्ग—कायाने जरापण हलाववी नहीं ते (३) लेश्या के अध्यवसायोंनूं स्थान (४) कार्य (५) स्थिति करवी ते अधर्मास्तिकायानूं लक्षण (६) आंकड़ानूं स्थान (७) उत्पत्ति स्थान—उपजवानूं ठेकाणुं (८) अवकाश-भूमिप्रदेश (९) शरीर ने अमुकस्थितिमां राखवुं ते आसन (१०) पण्णवणाना बीजापदनुं नाम (११) त्रीजुं अंगसूत्र के जेमां एक थी दस प्रकार की वस्तुओंनूं वर्णन छे (१२) स्थितिपरिणाम (१३) स्थिति-रूपगुण (१४) योग—मन-वचन-कायाना व्यापारना स्थानक (१५) ऊभा रहेवुं ते (१६) निवास देवुं ते (१७) कारण-निमित्त (१८) प्रकार भेद (१९) ठाणांगसूत्रना ठाणानुं नाम।

१९ अर्थों में से प्रस्तुत निबन्ध में द्रव्यरूप में स्थान, क्षेत्र, भूमि तथा भावरूप में स्थितिपरिणाम और स्थितिरूपगुण, इन अर्थों का ही ग्रहण अभीष्ट है।

हो है और यह अर्थ ठीक भी है, परन्तु यहाँ पर स्थानक शब्द का अर्थ कुछ विशेषता को लिये हुए है, उसी का दिग्दर्शन यहाँ पर कराया जाता है।

जैनागमों में पंचमहाव्रतधारी संयमशील मुनियों के निवासस्थान का उपाश्रय के नाम से उल्लेख किया गया है अर्थात् ध्यान के लिये जैन मुनि को शास्त्र में जिन-जिन स्थानों में रहने की आज्ञा दी है, वे स्थान उपाश्रय के नाम से कहे गये हैं। उसी उपाश्रय या वसती को 'स्थानक' नाम से कहने की परम्परा चली आती है, अथवा ऐसे कहें कि उपाश्रय और स्थानक ये दोनों शब्द पर्याय-वाची अर्थात् एक ही अर्थ के वाचक हैं। तात्पर्य यह कि मूर्तिपूजा को आगमविहित मानने और न मानने वाली इन दो परम्पराओं में क्रमशः उपाश्रय और स्थानक शब्द का व्यवहार होने लगा। इन दोनों शब्दों में अर्थगत कोई भेद नहीं, परन्तु सम्प्रदाय भेद से एक ही अर्थ के वाचक दो शब्द ग्रहण किये गये, जिनमें किसी प्रकार का भी अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। एक सम्प्रदाय में उपाश्रय शब्द प्रसिद्ध रहा जब कि दूसरी सम्प्रदाय ने उसीके अनुरूप भाव को अधिकता देते हुए उससे कुछ अधिक गुणनिष्पन्न स्थानक शब्द को ग्रहण किया। ये दोनों ही युक्तिसंगत और शास्त्रानुमोदित नाम हैं। इसमें विवाद

को कोई स्थान नहीं। पाठकों को यह तो भली भाँति विदित है कि शास्त्रों में साधु को अनगार कहा है। उसका अपना कोई घर नहीं होता, न वह अपने लिये कोई घर बनाता है और न उसके निमित्त से बने हुए किसी मकान में ठहरने की उसको शास्त्र में आज्ञा है। इसलिये श्रमण (साधु) और श्रमणोपासक (गृहस्थ) के लिये धर्म-ध्यानार्थ व्यवहार में आनेवाले उपाश्रय या स्थानक कैसे और किस प्रकार के होने चाहियें, इस बातका उल्लेख जैनागमों में बड़े स्पष्ट शब्दों में किया गया है। आचारांग नाम के प्रथम अंग का शय्या अध्ययन प्रायः इसी विषय के वर्णन से भरा पड़ा है और प्रश्नव्याकरणसूत्र के आठवें अध्ययन का निम्नलिखित सूत्रपाठ उक्त विषय का इस प्रकार खुलासा करता है—

* "पढमं देवकुल-सभा-प्पवा-वसह-रुक्खमूल-आराम-कंदरागर-गिरिगुहा-कम्म-उज्जाण - जाणसाला-कुविय साला-

---

* प्रथमां वस्तुविविक्तवासोनाम्नीं भावनामाह—देवकुलं यक्षादिगृहं, सभा महाजनस्थानं, प्रपा पानीयशाला, आवसथं परिव्राजकस्थानं, वृक्षमूलं प्रतीतं, माधवीलतादियुक्तदंपत्योरमणाश्रयो वनविशेषः आरामः, कंदरा दरी, आकरो लोहाद्युत्पत्तिस्थानं, गिरिगुहा प्रतीता, कर्म—लोहादि परिकर्म्यते क्रियते तत् परिकर्म, स्थानं पुष्पादिमद्बहुसंकुलं उत्सवादौ बहुजनभोग्यम्, यानशाला

मंडव-सुन्नघर-सुसाणलेणआवणे अन्नम्मि य एवमादियंमि दग-मट्टिय-बीज-हरित-तसपाणअसंसत्ते अहाकडे फासुए विवित्ते पसत्थे उवस्सए होइ विहरियव्वं, आहाकम्मबहुले य जे से आसित-संमज्जिअ-ओवलित्तसोहिय-छायण-दूमण-लिंपण-अणुलिंपण-जलण-भंडचालण अंतो वहिं च असंजमो जत्थ वड्ढति संजयाण अट्ठा वज्जेयव्वो हु उवस्सओ से तारिसए सुत्तपडिकुट्ठे । एवं विवित्तवासवसहिसमिति-जोगेण भावितो भवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरण-करावणपावकम्मविरतो दत्तमणुन्नाय ओग्गहरुत्ती ।

रथादीनां रक्षणगृहं, कुप्यशाला गृहोपकरणशाला, मंडपः यज्ञा-द्युत्सवे (निर्मितवस्त्रगृहविशेषः), शून्यगृहं निर्मानुषं, श्मशानं मृतकजनप्रेतभूमिः, लयनं शैलगृहं, आपणः पण्यस्थानं, ततः समा-हार द्वन्द्वः, अन्यस्मिन्नपि एवं प्रकारे उपाश्रये विहर्त्तव्यमिति । किंभूते उपाश्रये ? दकमुदकं, मृत्तिका पृथिवीकायरूपा, बीजानि शाल्यादीनि, हरितानि दूर्वादीनि, त्रसाः प्राणाः (प्राणिनः) द्वीन्द्रि-यादयः, तैः असंसक्तोऽनायुक्तः (तस्मिन्निति), यथाकृते—गृहस्थेन स्वार्थं निष्पादिते, प्रासुके निर्जीवे, विविक्ते स्त्र्यादिदोषरहिते, अतएव प्रशस्ते शुभनिमित्ते उपाश्रये वसतो भवति विहर्त्तव्यं आश्रयितव्यं शयनादि वा विधेयम्। यस्मिन् स्थाने न वसितव्यं तदाह—आधया साधुमनस्याधाय आश्रित्य तया पृथिव्याद्यारंभः क्रियते तदाधाकर्म तेन बहुलं—बहु प्रचुरं यत्र स तथा एवंविधोपाश्रयो वर्ज्यः, अनेन मूलगुणदूषितस्य परिहार उक्तः । पुनः कीदृशम् ? आ—ईषत् सितं

इस आगमपाठ का भावार्थ यह है कि देवकुल—यक्षादि का स्थान, सभा, प्रपा (प्याऊ) परिव्राजक-स्थान (मठ-आश्रम), वृक्षमूल, आराम, गुफा, आकर—जहांपर लोहादि की क्रियाएँ की जाती हैं, उद्यान, यानशाला कुप्यशाला, मंडप, श्मशान—मसाणभूमि, शून्यगृह—सूना मकान, शैलगृह—पर्वत के अन्दर बना हुआ मकान, आपण—दुकान तथा इसी प्रकार के अन्य स्थान जिनमें कि मिट्टी, पानी, बीज, हरा तृण, घास आदि सचित्त पदार्थ न हों एवं त्रसप्राणी—स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित शुद्ध

सिंचितं, संमार्जितं कचवरापनयेन, उपलितं उत्कपितं जलाभिसिंचनेन, शोभितं चन्दनमालाचतुष्कपूर्णादिना, छादनं उपरि दर्भादिना छादनं, दुमनं सेटिकया धवलनं, लिंपनं छगणादिना, लिप्तलिप्ताया भूमेः पुनर्लेपनं अनुलेपनम्, शीतापनोदाय वन्हेर्ज्वलनं, भांडपालनं प्रकाशहेतोर्भाजनानामितस्ततः करणं, समाहार द्वन्द्वः, अन्तर्मध्ये बहिश्चोपाश्रयस्य तत्र असंयमो जीवविराधना यस्मिन् उपाश्रये वर्तते, संयतानां साधूनां अर्थाय हेतवे तादृशः सावद्योपाश्रयो वसतिः वर्जनीय इत्यर्थः । हु निश्चयेन स तादृशः सूत्रप्रतिकुष्टः आगमनिषिद्धः। एवं उक्तप्रकारे विविक्ते एकान्ते वासः—स्थानं वसतिर्यस्य स समितियोगयुक्तो भावितो वासितः अन्तरात्मा जीवः, निच्चं सदा, अधिकरणकारापनानुमतिनापकर्मविरतो निवृत्तः सन् दत्तं स्वाम्यादिभिः अनुज्ञातः सूत्रोक्तस्तादृशो योऽवग्रहो ग्रहणाय वस्तु तत्र रुचिर्यस्यासौ साधु इति टीकाकारः ॥

बसती हो और जो साधु के निमित्त न तो बनाई गई हो और न साधु के निमित्त से उसमें किसी प्रकार की आरम्भ-सारम्भ आदि क्रियायें की गई हों; ऐसे एकान्त शुद्ध स्थानों को उपाश्रय, वसती या स्थानक कहते हैं। आत्मसमाधि के लिए ऐसे हो शुद्ध निर्दोष और विविक्त स्थानों में जैन मुनियों को निवास करना चाहिये, कारण कि इस प्रकार के स्थानों में रहने से ही संयम का यथावत् पालन और आत्मसमाधि की प्राप्ति हो सकती है।

इन्हीं स्थानों को, जहाँ पर कि संयम निर्वाह के लिये जैन मुनि समय-समय पर आकर ठहरते हैं, श्रमणोपाश्रय भी कहते हैं; और उनके पास जानेवाले गृहस्थों को श्रमणोपासक के नाम से भी उल्लेख किया है। श्रीभगवती सूत्र में कहा है कि श्रमणोपाश्रय में यदि किसी श्रमणोपासक (जैन गृहस्थ) ने सामायिक की हो और उसको किसी वस्तु का वहाँ पर अपहरण हुआ हो तो वह सामायिक के पश्चात् उक्त वस्तु को वहाँ पर ढूँढता है, वह वस्तु उसी गृहस्थ की होती है अन्य किसी की नहीं, क्योंकि सामायिक में उस गृहस्थ का ममत्व का त्याग नहीं है। ❀ "समणोवासगस्सणं भंते सामाइयकडस्स

❀ सामाइयकडस्सत्ति कृतसामायिकस्य प्रतिपन्नाद्यशिक्षाव्रतस्य, श्रमणोपाश्रये श्रावकः सामायिकं प्रायः प्रतिपद्यते इत्यत

समणोवस्सए अच्छमाणस्स केइ भंडे अवहरेज्जा इत्यादि" शत. ८ उद्दे. ५.

वर्तमान समय में जो लोग प्रायः यह कहते हैं कि चलो दर्शन करने व व्याख्यान सुनने के लिये साधुओं के उपाश्रय या स्थानक में—यह उनका कथन आगमनिर्दिष्ट प्रथा के प्रतिकूल नहीं किन्तु न्याय-संगत और आगमानुमोदित है। तब इस सारे कथन का सारांश यह निकला कि जो स्थान साधुओं के निवास का मुख्य उद्देश रख कर न बनाया गया हो तथा जो पूर्वोक्त दोषों से रहित हो एवं जिसमें रहने से धर्मध्यान की वृद्धि और कामरागादि की निवृत्ति में सहायता मिले और समय-समय पर आकर संयम-शीलवाले परम त्यागी जैनमुनि जहाँ निवास करें, उस स्थान का नाम उपाश्रय वसती या स्थानक है। इस प्रकार यह आगमदृष्टि से द्रव्य स्थानक कहा जाता है और उसमें निवास करनेवाले साधु द्रव्यरूप से स्थानकवासी कहलाते हैं "स्थानके-द्रव्यरूपे निर्दोषे विविक्ते प्रशस्ते उपाश्रये वसनो, वसति तच्छील इति स्थानकवासी ॥

स्थितं श्रमणोपाश्रये आसीनस्येति, केइत्ति कश्चित्पुरुषः, भंडेत्ति वस्त्रादिकं वस्तु गृहवर्ति साधूपाश्रयवर्ति वा, अवहरेज्जत्ति अपहरेत् इत्यादि (व्याख्या)।

भाव स्थानक

ऊपर के कथन में द्रव्यस्थानक का वर्णन किया गया है अर्थात् ❀आगमसम्मत निर्दोष और विशुद्ध स्थान में निवास करनेवाला ही आत्मसमाधि को उपलब्ध कर सकता है, क्योंकि आत्मशुद्धि के लिये भावशुद्धि के साथ-साथ द्रव्यशुद्धि की भी बड़ी आवश्यकता होती है। प्रायः द्रव्यशुद्धि भावशुद्धि में बड़ी सहायक होती है, इसी लिये स्थान-स्थान पर शास्त्रकारों ने साधुओं के लिये एकान्त और शान्तिप्रद स्थान में, जहाँ किसी प्रकार से संयम को बाधा न पहुँचे, रहने और कामरागविवर्द्धक स्थान को त्यागने की आज्ञा दी है। परन्तु केवल द्रव्यशुद्धि से

❀ आगम में लिङ्गादि का भी द्रव्य और भाव रूप से उल्लेख किया गया है जैसे कि—

पुलाएणं भंते ! किं सलिंगे होज्जा अण्णलिंगे होज्जा गिहिलिंगे होज्जा ? गोयमा ! दव्वलिंगं पडुच्च सलिंगे वा होज्जा अण्णलिंगे वा होज्जा गिहिलिंगे वा होज्जा, भावलिंगं पडुच्च नियमा सलिंगे होज्जा एवं जाव सिणाए ॥ ९ ॥

लिङ्गद्वारे लिङ्गं द्विधा द्रव्यभावभेदात्, तत्र च भावलिङ्गं ज्ञानादि, एतच्च स्वलिङ्गमेव, ज्ञानादिभावस्यार्हतामेव भावात्, द्रव्यलिंगं तु द्वेधा स्वलिङ्गपरलिङ्गभेदात्, तत्र स्वलिङ्गं रजोहरणादि, परलिङ्गं च द्विधा कुतीर्थिकलिङ्गं गृहस्थलिङ्गं चेति।

ही आत्मसमाधि और संयम की निर्मलता नहीं हो सकती; इसलिये मोक्षाभिलाषी मुनि को द्रव्यरूप स्थान से आगे भावरूप स्थान को अपनी निवासभूमि बनाने की आवश्यकता होती है।

आत्मा की स्वाभाविक गुण-परिणति, उसका भाव-स्थान है; अथवा ऐसे कहें कि आत्मा के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच भावों में से क्षायिक भाव ही मुख्य भाव स्थान है, क्योंकि यह भाव कर्मसम्बन्ध के सर्वथा क्षय होने से ही प्राप्त होता है। इस भाव स्थान को प्राप्त करने के लिये भावसंयम को ग्रहण करना होगा और भावसंयम के लिये सामायिकादि चारित्रों के विशुद्धतर संयमस्थानों में निवास करना अर्थात् उनका यथावत् पालन करना परम आवश्यक है। इसलिये परमसाध्य मोक्ष स्थान की प्राप्ति के निमित्त भावसंयम की आराधना करनेवाला जैनमुनि, सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-सम्पराय और यथाख्यात इन पाँच प्रकार के चारित्रभेदों के वर्णन किये गये * संयम स्थानों में से विशुद्ध और

---

* श्रीभगवतीसूत्र में सामायिकादि चारित्रों के संयमस्थानों का वर्णन इस प्रकार से किया है—

"सामाइयसंजयस्सणं भंते ! केवइया संजमट्ठाणा पन्नत्ता

विशुद्धतर संयम स्थानों में निवास करता है अर्थात् उनका सम्यक्तया आराधन करता है। अतः उक्त भावरूप संयम स्थानों में वास करने से वह भाव स्थानकवासी कहा वा माना जाता है। तब "स्थानके भावसंयमादिरूपे सम्यक्चारित्रे वसति तच्छील इति स्थानकवासी", इस गुणनिष्पन्न यौगिक व्युत्पत्ति के द्वारा उक्त भावकी स्पष्टता और प्रामाणिकता सुनिश्चित हो जाती है। इस प्रकार

गोयमा! असंखेज्जा संजमट्ठाणा पण्णत्ता एवं जाव परिहारविसुद्धियस्स। सुहुमसंपरायसंजयस्स पुच्छा, गोयमा! असंखेज्जा अंतोमुहुत्तिया संजमट्ठाणा पण्णता। अहक्खायसंजयस्स पुच्छा, गोयमा! एगे अजहण्णमणुक्कोसए संजमट्ठाणे। एएसिणं भंते! सामाइय-छेदोवट्ठावणिय-परिहारविसुद्धिय-सुहुमसंपराय अहक्खायसंजयाणं संजमट्ठाणाणं कयरे २ जाव विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवे अहक्खायसंजमस्स एगे अजहण्णमणुक्कोसए संजमट्ठाणे, सुहुमसंपरायसंजयस्स अंतोमुहुत्तिया संजमट्ठाणा असंखेज्जगुणा, परिहारविसुद्धिसंजयस्स संजमट्ठाणा असंखेज्ज गुणा, सामाइयसंजयस्स छेदोवट्ठावणियसंजयस्सय एएसिणं संजमट्ठाणा दोण्हवि तुल्ला असंखेज्ज गुणा। (शत. २५ उद्दे. ७)

व्या०—संयमस्थानद्वारे—सुहुमसंपरायेत्यादौ असंखेज्जा अंतोमुहुत्तिया संजमट्ठाणत्ति—अन्तर्मुहूर्त्ते भवानि आन्तर्मुहूर्तिकानि, अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा हि तदद्धा, तस्याः च प्रतिसमयं चरणविशुद्धि-

ऊपर बताये गये द्रव्य और भावरूप स्थानों—स्थानकों में वास करने से जैन भिक्षु स्थानकवासी कहलाते हैं; जो कि किसी प्रकार से भी अनुचित नहीं है। यहां पर यह शंका हो सकती है कि जिस प्रकार व्याकरण के अनुसार स्थान शब्द से स्वार्थ में क प्रत्यय होने से स्थान

विशेषभावादसंख्येयानि तानि भवंति, यथाख्याते त्वेकमेव, तदद्धायाश्चरणविशुद्धेर्निर्विशेषत्वादिति, संयमस्थानाल्पबहुत्व चिन्तायां तु किलासद्भावस्थापनया समस्तानि संयमस्थानान्येकविंशतिः, तत्रैकमुपरितनं यथाख्यातस्य, ततोऽधस्तानि चत्वारि सूक्ष्मसम्परायस्य, तानि च तस्मादसंख्येयगुणानि दृश्यानि, तेभ्योऽधश्चत्वारि परिहृत्यान्यान्यष्टौ परिहारकस्य, तानि च पूर्वेभ्योऽसंख्येयगुणानि दृश्यानि, ततः परिहृतानि यानि चत्वार्यष्टौ च पूर्वोक्तानि तेभ्योऽन्यानि च चत्वारीत्येवं तानि षोड़श सामायिकछेदोपस्थापनीयसंयतयोः, पूर्वेभ्यश्चैतान्यसंख्यातगुणानीति।

इसका संक्षेप से भाव यह है कि सामायिक-संयत के असंख्यात संयमस्थान कहे हैं, इसी प्रकार छेदोपस्थानीय और परिहारविशुद्धि-संयत के भी असंख्यात संयमस्थान जानने, किन्तु सूक्ष्मसंपराय-संयत के आन्तर्मुहूर्तिक असंख्यात संयम स्थान हैं, और अत्यन्त विशुद्ध होने से यथाख्यात चारित्र का एक ही संयमस्थान माना गया है। फिर मूल सूत्र में इन संयम स्थानों का जो अल्पबहुत्व कथन किया गया है, उसको वृत्तिकार ने स्पष्ट कर दिया है।

और स्थानक ये दोनों एक ही अर्थ के वाचक माने जाते हैं, उसी प्रकार मूल जैनागमों में भी कहीं पर स्थान शब्द की जगह स्थानक शब्द का उल्लेख है या नहीं? इसके उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि समवायांग सूत्र में द्वादशाङ्गी का वर्णन करते हुए समवायांगसूत्र के अधिकार में एक सूत्रपाठ दिया गया है उसमें ❀ "ठाणगसयस्स"–[स्थानकशतस्य] ऐसा उल्लेख है। यहाँ पर स्थान शब्द के अर्थ में स्थानक शब्द का विधान स्पष्ट देखने में आता है। इसलिये आगम भी स्थान और स्थानक शब्द की अभिन्नता का ही समर्थक है।

वास्तव में सर्वोत्कृष्ट और सर्वातिशायी जो स्थान है,

❀ सूत्रपाठ इस प्रकार है—

समवाएणं एवाइयाणं एगट्ठाणं एगुत्तरीय परिवुड्ढीय दुवालसंगस्स गणिपिडगस्स पल्लवग्गो समणुगाहिज्जइ ठाणगसयस्स वारसविह वित्थरस्स सुयणाणस्स जगजीवहियस्स भगवओ समासे णं समोयारे अहिज्जंति ॥

इसके अतिरिक्त प्रमाणनयतत्वालोक के अष्टम परिच्छेद के १९ वें सूत्र के निम्नलिखित पाठ में भो स्थान शब्द के अर्थ में स्थानक शब्द का प्रयोग किया गया है—

वादिप्रतिवादिनोर्यथायोगं वादस्थानककथाविशेपांगीकारणाग्रवादोत्तरवादनिर्देशः" इत्यादि।

वह मोक्षस्थान है। वह ध्रुव है, शाश्वत है और सब प्रकार की बाधाओं से रहित है। उसको प्राप्त करने या उसमें निवास करनेवाले को जन्म, मरण, जरा और आधि व्याधि का कोई भय नहीं रहता।❀ वह लोक के अग्रभाग में स्थित है, परन्तु उसका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। उसको प्राप्त करनेवाले आत्माओं के लिए फिर किसी प्रकार का कोई कर्त्तव्य बाकी नहीं रह जाता। वे संसार की जन्म-मरण परंपरा का अन्त करके सदा के लिये कृतकृत्य हो जाते हैं। इसी मोक्ष का दूसरा नाम सिद्धस्थान या सिद्धों की निवास भूमि भी है †। अतः उस मोक्षरूप स्थान में निवास करनेवाले सिद्ध भगवान् ही यथार्थरूप

❀ अत्थि एगं धुवं ठाणं लोगग्गम्मि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥ ८१ ॥
छा० अस्त्येकं ध्रुवं स्थानं, लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्र न स्तो जरामृत्यू, व्याधयो वेदनास्तथा ॥ ८१ ॥

† तं ठाणं सासयं वासं, लोगग्गम्मि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयंति, भवोहंतकरा मुणी ॥ ८४ ॥
छा०—तत् स्थानं शाश्वतावासं, लोकाग्रे दुरारोहं।
यत् संप्राप्ता न शोचन्ते, भवौघान्तकरा मुनयः !

ये गाथायें उत्तराध्ययनसूत्र के २३ वें अध्ययन की हैं। केशीकुमार और गौतममुनि के प्रश्नोत्तर रूपमें यह सम्पूर्ण कथन कहा गया है, जो कि पाठकों के लिये अवश्य द्रष्टव्य है।

में स्थानक शब्द का ग्रहण है। जैसे कि पहले बतलाया जा चुका है कि श्वेताम्बर जैन परम्परा में दो सम्प्रदाय प्रचलित हैं, एक वह जो मूर्तिपूजा को आगमविहित नहीं मानता है, जब कि दूसरे सम्प्रदाय की मान्यता इसके विरुद्ध है। पहले में तो स्थानक और उपाश्रय दोनों प्रचलित रहे और दूसरे ने मात्र उपाश्रय शब्द को ही अपनाया। इसलिये स्थानक कहो या उपाश्रय, अर्थ दोनों का एक ही है। शब्दभेद का कारण केवल साम्प्रदायिक विचार विभिन्नता है, ऐसा हमारा विचार है। इसके अतिरिक्त इतना फिर भी स्मरण रहे कि स्थानकवासी शब्द पहले तो देवता, द्रव्य और भावरूप स्थानक में बसने से जैनमुनियों तक ही वह सीमित रहा; बाद में दिगम्बर और श्वेताम्बर शब्द की भान्ति वह तदनुयायी वर्ग में प्रयुक्त होता हुआ एक सम्प्रदाय में रूढ़ होगया जो कि आज तक प्रचलित हो रहा है।

अन्त में पाठकों से हमारा निवेदन है कि स्थानक-वासी शब्द के सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टि से हमारा जो कुछ विचार था वह हमने उनके सामने उपस्थित कर दिया, आशा है अन्य जैन विद्वान् भी इस विषय पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

---

* वन्दे अर्हतम् *

श्री जैन नवरत्न किरणावली.

नंबर १ पुण्य महात्म्य (रतिसार चरित्र)

(तर्ज-अष्टपदीमें)

पुण्य बांधो सुगुणा नर नार। पुण्य से सुख पाया रतिसार ॥ टेर ॥ पुण्य की महिमा कही अनंत, पुन्य से परमानंद प्रगटंत, पुण्य से सकलापदा शमंत, पुण्य से पग पग निधि मिलंत ॥ दोहा ॥ छत्रपती भारत पती, अमर इन्द्र अहमिंद। ऊंचे २ पद चढे, जोहो पुण्य का बंध। पुण्य से खुलता मोक्ष दुवार। पुण्य ॥ १ ॥ महिष्मति नगरी स्वर्ग समान, नरेश्वर सुभूम न्यायि निधान। प्रजा हितकार पूर्ण बलवान, धनद ज्यों दानी दक्ष महान ॥ दोहा ॥ रति सादश रति सुन्दरी, पुत्र नाम रतिसार। वंदन सम स्वरूप सुभग, इन्द्र लजावन हार। सर्व सद् विद्या का आगार ॥ पुण्य ॥ २ ॥ मात पितु को अतिही प्यारो, नगर जनको मोहन गारो। धर्म नीती प्रीती वारो, सदा दुर्व्यसनों से न्यारो ॥ दोहा ॥ तुरंग स्वार हो एकदा, आया मध्य बजार। सहस्रों जन निरखी रह्या, मन मे

दीदार । धन्य इस बालक को अवतार ॥ पुन्य ॥ ३ ॥ तहां एक पुरुष पताका हाथ, घूमरहा बांध पोटली साथ। देख कुंवर पूछावे बात, पोटलीमें का कह अवदात । दोहा। ताम पुरुष कहे ग्रंथिमें, एक सुरत्न सिलोक। त्रिजग का सत् सार है, वक्त पडे यही तोक । वेचने लगा होय लाचार ॥ पुण्य ॥ ४ ॥ लक्ष सुवर्ण कही कीमत खास, सुनत सब करन लगे परिहास । दिखादे ऐसी क्या सुखरास, खरीदे बिन देखन निराश ॥ दोहा ॥ ज्यो तुमको दिखलायदूं, तुम करलोगे कंठ । फिर इन्हें कहो कौनले, इस कारण यह गंठ ॥ खोल बतलाता नहीं सरकार ॥ पुण्य ॥ ५ ॥ कुंवर के दिल में यह चाही, खरीदूं में इसके ताही ॥ कहे ले लाख मोहर भाई, बता इनमें क्या अधिकाई ॥ दोहा ॥ तब नर भाखे सुन प्रभो, इस गृंथी का हाल । सावत्थी नगरी तणा, में सर सेठ विशाल । द्रव्य का था नहीं पारा वार ॥ ६ ॥ नाम सुबन्धु मेरा खास, सैंकडो घर थे दासी दास । भवन में करना भोग विलास, मानता गान्धर्व गमन निवास ॥ दोहा ॥ एक समय हत भाग्य से, देखा सुपन निसार । सुन्दर वस्त्राभरण सजी, घर से निकली नार । जाग कर करने लगा विचार ॥ ७ ॥ हुवा दुर्भाग्य उदय उसवार, धूम्र प्रगटा घरमें असरार । निकल घरसे किया हाहाकार, दौडकर आये मनुष अपार ॥ दोहा ॥ जलनीर्थी ो जलगई, बची लगाये चोर । मुर्छा खा में गिर गया, घर करते शोर । उठाया मुझको कर उपचार ॥ ८ ॥

दिलासा देवन लागे लोग, हुये जो थे कर्मों का भोग। तजो सब दिल दाहक जर सोग, गढा घर में का करो उद्योग ॥ दोहा ॥ अहि वृश्चिक पाये तहां, देख हुवा हैरान। दिशावरभी डूबिया, ऊठीसर्व दुकान। एकदम पडा दुखों का पहार॥९॥ बदल गये देणदार सब जन, लेणायत करने लगे विघन। पास नहीं दो पैसे का धन, कामणी कर रही असह्य रुदन ॥ दोहा ॥ निन्द्रित बालक चूमके, निकला तज निरधार। विकट विपिन लंघन करी, एक नगर के बाहार। आय बैठा मैं हीमत हार॥ १० ॥ हजारों को मैं लेता पाल, पेट भरने का पडा दुकाल, हाय अब कहां जाऊं मैं चाल, मरु अपघात करी फिलहाल॥ दोहा ॥ गिरिपर गिरने को चढा आई एक अवाज ॥ रेमूर्ख चिन्तामणी क्यों फेंके तूं आज ॥ फेर मिलना होगा दुष्वार ॥ ११ ॥ लखातो नजर न को आया, मरन को फिर दिल दोडाया, दुबारा फिरभी अटकाया, मूढ क्यों करे नाश काया ॥ दोहा ॥ देखा द्रष्टि ना पडा, तब तो निश्चेधार ॥ मरणोद्यत होवत तुरत फिर आई ललकार। मान क्यों करता जन्म खुवार ॥ १२ ॥ अखिर में कूद पडा कर रोश, तुर्त ही आंधी ऊठी जोश। गिरन के बदल हुआ बेहोश, चेत हो देखा भर संतोश ॥ दोहा ॥ आंधी वायू कुछ नहीं मुनिवर दीठा एक ॥ के सुपना या है भरम ऊठी तरंग अनेक। तदा बोला मुनि गुण भंडार ॥ १३ ॥ मना करने पर नहीं मानी, तुझे क्यों खारी जिन्दगानी। शुभाशुभ

कर्म थकी प्रानी, छुटे का करत प्राण हानी ॥दोहा॥ संपति पा मदमें छके करत पुन्य का अंत॥ आपतिमें दुख ना गिने पूर्व पाप खपंत ॥ श्लोक यह सर्वागम का सार ॥ १४ ॥

श्लोक—कार्यः सम्पदिनानन्दः पूर्व पुण्य भिदेहिसा ॥
नैवापदि विषादस्तु साहि प्राक् पाप पिष्टये॥ १ ॥

मेटके मुझ हिरदे की दाज, गगन गति चले गए मुनिराज। श्लोक का पाके अतिशयसाज, शान्ती चित्तकर घर आया भाज ॥दोहा॥ दी शान्ती निज नारिको धर्म अर्थ समुझाय। लेनदार सब रुकगये, देणदार घर आय। देगया जो मैं दिया उधार ॥ १५ ॥ अभी मुझ साले का ब्याह, पिहर का पत्नी को उत्साह ॥ जणाई तिण मुझको दिलदाह, गरीबी में अति लाजूं नाह ॥ दोहा ॥ वस्त्राभर्ण से सज हुई मिलसी नारी अनेक ॥ नैग खर्च मुझ पानही का कह सी सब देख ॥ हाय मुझ जीनाही धिक्कार ॥ १६ ॥ मान गण होगा सही मगन्न, करो इस कारण कोई जतन्न ॥ वस्त्र भूपण अरु नैगिक धन्न, मुझे लादो को बचै सतन्न ॥ दोहा ॥ धिक अस मूर्ख नारियाँ, तंगी में करे तंग ॥ नीती कहे अर्द्धांगि वह दुख में दुख सहे संग ॥ सर्वस्व समझे इक भरतार ॥ १७ ॥ सोचकर बैठा उतरा नूर, हियेसे उडगया सर्व सहूर ॥ कौनसी बेंचू वस्त जरूर, जिन्हसे सधजा सब दस्तूर ॥ दोहा ॥ श्लोक रत्नही दिख डा, जो सुर वृक्ष समान ॥ मैं कब वैचूं पर हुआ हटीली रान ॥ बोलता छूटी आंसूधार ॥ पुन्य ॥ १८ ॥

कुंवर तब दीन्हा हित विश्वास, खोल ग्रंथी करदे परकास ॥ निकाला तत्क्षण होय हुलास, सुनो श्रोताजन चित्त मन खास ॥ दोहा ॥ संपति पा मद में छके करत पुण्य का अंत आपतिमें दुख ना गिने पूर्व पाप खपंत ॥ श्लोक यह सब अध्यातमसार ॥ १९ ॥

श्लोक—कार्य सम्पदिनानन्दः पूर्व पुण्यभिदे हिसा ॥
नैवापदि विपादस्तु साहि प्राक् पाप पिष्टये ॥ १ ॥

पूण्य से मिले संपदा आय, मूढ मानुष इनमें मुरझाय ॥ पुण्य बीते देखत विरलाय, कोटि उपाय व्यर्थ होजाय ॥ दोहा ॥ हीन स्थिती में आयके विह्वल होय मतिहीन । प्राण न्योछावर करण को हेजावे परवीन ॥ ज्ञानके सून्य हिये अंधकार ॥ २० ॥ कुंवर सुन अति आनन्द पाया, मित्र अनमोल रत्न लाया ॥ मानवी वर थे दिखलाया, मांगले दूं दिलका चाया ॥ दोहा ॥ लक्ष मोहर भंडार से दी इच्छा अनुसार । श्लोक रत्न लेकर विदा घर आया रतिसार ॥ प्रसन्नता व्यापी अंग अपार ॥ २१ ॥ खजानी भरा भूपका कान, व्यर्थ धन कुंवर लगे उडान ॥ पिताके जागी कोप कृशान, दबाया अए मूरख नादान ॥ दोहा ॥ लाख द्रव्य इक श्लोक का कहां से आया सीख । इन लच्छन से कुछ दिन मांग खायगा भीख । द्रव्य ही का जगमें व्यवहार ॥ २२ ॥ धनिक की महंत पुरुष करें आस, देवता भी है द्रव्य के दास, द्रव्य बिन कौन बिठावे पास, भमर ज्यों फूल तजे बिनबास ॥ दोहा ॥ कुंवर कहे

सुनिये प्रभो, जो सत्कर्म कमाय । सो धन लेखे में लगा, नाहिंतर नर्क लेजाय ॥ दोष का कोप कहा करतार ॥२३॥ वचन मुंह तोड श्रवण कर भूप, क्रोध में भवके होय विरूप ॥ कुंवर उस रइणी में गुप चूप, देशांतर चला छोड गृह कूप ॥ दोहा ॥ कमल वृन्द सोते तजी रवि अस्ताचल जाय । तैसे सब सोते तजी कुंवर चला छिटकाय । समय वश हूवा चरण विहार ॥ २४ ॥ भमत केई वन में वनचर चोर । कुंवर पा प्रबल पुण्य का जोर । निडर पन से लांघा वन घोर । अनोदक बिन निकले त्रय भोर ॥ दोहा ॥ समय दिवस दोपहर के, तपन पीडित सुकुमार । सावत्थी के बारणे कामदेव आगार । तहां विश्राम लिया क्षिणवार ॥ २५ ॥ वहां एक पूजारिन पेखा । पुण्य का करन लगी लेखा । भाग्यशाली अंग पर रेखा । पुरुष अस स्वपने नहीं देखा ॥ दोहा ॥ जल झारी हाजर करी, कुंवर किया जल-पान । उस अवसर स्वर सरस का गायन आया कान । कौन ये गा रही राग मलार ॥ २६ ॥ पुजारिन बोली सुन स्वामी । सावत्थी नगरी यह नामी । नराधिश 'कृप' सब गुण धामी । भाग्य सें एक धिया पामी ॥ दोहा ॥ तस सौन्दर्य अविलोकतां, कमला कान्ति नकाम । नव यौवन में झल रही सौभाग्य मंझरी नाम । जिन्होंके दो सह चरियां लार ॥ २७ ॥ प्रियचंदा मंत्री धीर लडकी । सुतारा धन्य शेठ घर की । अखंडित प्रीत परस्पर की । सदा पूजा इन सुर की ॥ दोहा ॥ ते सुंदरियां आरही, गाती

गीत सुरील। इतने में दृष्टि पडी, देख सुकांत सलील। मनही मन सींच रहा उद्गार ॥ २८ ॥ छटक रहा शशि सा मुख मंडल्ल। कुंवर हुआ काम पीडित उज्वल्ल। इधर कन्या लख पुरुप नवल्ल। प्रेम पौरिप में हुई विह्वल्ल ॥दोहा॥ कामदेव दर्शन दिया, अथवा को छल छंद। या देवन वरदान हित, लाया रत्न नरिंद। तर्कना कर रही नेक प्रकार ॥ २९ ॥ हुआ यों नयनानन्द अलाप। मदन की लगी अतिशय ताप। इरादा आपस करन मिलाप। अन्योऽन्य पडी कलेजे छाप ॥ दोहा ॥ राज सुता कहे सुन सखी, जिस दिन होगा व्याह। बिछुर जांयगे अपन सब, उपजेगा दुःख दाह। त्रिहुं इनसे करलें व्यवहार ॥ ३० ॥ सहेली त्रि कहे सुन बाई। यही हमरे दिल में आई। आजही निकल निशि मांही। यहां आकर लां दिल चाही ॥ दोहा ॥ कामदेव को पूजके करी वहाने बात। तुम हिरदे में हम वसे तैसही तुम नाथ। यहीं स्थिर रहियो कनक सुरार ॥ ३१ ॥ समझ गये वयनोक्ति बुधवंत। गई घर विरहानल प्रजलंत। दिवस दुशमन का कब हो अंत। कंत के चरण त्वरित फरसंत ॥ दोहा ॥ पूजारिन रतिसार को, मोदक देगई हाथ। तीन दीवस का पारणा, करके फिर निज गात। विलेपन कर बैठा सुकुमार ॥ ३२ ॥ हुवा सूर्यास्त पडा अंधकार। नींद में हुये सकल नरनार। त्रिहुं कन्या ले सब शिथिलार। चली गहणे का शब्द संहार ॥ दोहा ॥ गज गमनी रमणी त्रिहुं, मिली भाग्य बलवान,

तीनों प्रिय के चरण में अर्पित कीन्हा प्रान । परस्पर दिया प्रेम उपहार ॥ ३३ ॥ विवाह कर लिया कुंवर के साथ । पुण्य से चढा पिरोजा हाथ । रंग रस विनोद में गई रात । लखा होवन वाला परभात ॥ दोहा ॥ आज्ञा ले निज २ भवन, जा सूती तिहुनार । कामदेव देवल कुंवर सोगये भरम निवार ॥ रात गई उदय हुआ दिनकर ॥ ३४ ॥ रक्षिता दासी देख विरंग । भूपपासे गई कंपित अंग । विवाही बाई किनके संग । चिन्ह तन दीसत दमक अनंग ॥ दोहा ॥ इतने मंत्री शेठजी आकर करी पुकार । हम कन्या संग रातको परण गया सरकार । फेलगई चरचा सहर मुझार ॥ ३५ ॥ क्रोध में धका अधिक नर देव पुरुष इक आ बाला तत्खेव । एक नर युवक लखा स्वय मेव । देवालय सूता वेश गुलेव ॥ दोहा ॥ दी आज्ञा तलवर तहीं शीघ्र पकड ले आव ॥ त्वरित कुंवर का आ लखा, तेज पुंज परभाव ॥ बचन नहीं निकला मुख से वहार ॥ ३६ ॥ भूप पासे आ करा जिकर । सूर्य से तेज ताप बढकर । वीर वर दीख रहा यह नर । चले नहीं वस मेरा क्षिणभर ॥ दोहा ॥ नृप सैना भेजी वडी, कुंवर तलब के काज । पकडो इन पापिष्ट को, आये करत अवाज । चमकती लेले के तलवार ॥ ३७ ॥ धडा धड धसगये कर हंकार । श्लोक स्मरण कीन्हा रतिसार, हुवे सब अंध सुभट इकसार, देखने लगे घोर अंधकार ॥ दोहा ॥ आपस में लडने लगे लगे तमाम ॥ प्रतिमा को ही रिपु समझ, कूटन लगे

नकाम राज 'घी, क्यों परणी मुरदार ॥ ३८ ॥ चँवर को कुंवर केश जानी । नोचने लगा अज्ञानी । कुंवर रहा देख बुद्धिमानी । भूपने सुनली सब कहानी ॥ दोहा ॥ भेजा मंत्री आयके रोका समर तुरंत । हाथ जोड कहे ए गुणग नगर नरेश अतंत ॥ तरस रहे देखन को दीदार ॥ ३९ ॥ हुवे शर्मित सुभट परिवार । अपनहीकर रहे मारामार । कुंवर उठ ही मंत्रीश्वर लार । सभा में आके किया जुहार ॥ दोहा ॥ देख नरेश्वर रूपको, दिलमें किया विचार । धन्य कुक्षि जिस मातकी, इस नरका अवतार । फेंकदो सब धन इन पर वार ॥ ४० ॥ भूप बाह पकड गोद लीन्हा । भले सत्पुरुष दर्श दीन्हा । कौन कुल को उज्वल कीन्हा । नाम किस अक्षर पर चीन्हा ॥ दोहा ॥ दे वियोग किस देशको किया दुखी बडवीर । भट अंधे क्योंकर भये, तू मोहन वरधीर ॥ प्रगट करिये शुभ नजर निहार ॥ ४१ ॥ अंत तक कीन्हा कुंवर जिकर । सुभट अंध हुवे नहीं खबर । शेठ मंत्रीश और नरवर । प्रगट किया व्याह प्रसन होकर ॥ दोहा ॥ सुबंधु सुणी वारता, चल आव्यो तिणवार ॥ प्रमोदित हो पद नम्यो, नवीनानंद दातार । भाग्य से भेट्या तुम चरणार ॥ ४२ ॥ नरेश्वर यह नर रत्न महंत । दया के सर पूर्ण पुण्यवंत । किया मुझ घोर दुखों का अंत । क्षिति पति हुलसित हुवो अतंत ॥ दोहा ॥ बागवान तिण अवसरे, सुखद वचना लाय । चारण मुनि उद्यान में, आज बिराज्या आय ॥ पंचसय मुनिजन के परवार ॥४३॥

अपूर्व शांति प्रगटाई । लक्ष्मी इच्छित बखसाई । सैन्य चतुरंगी सजवाई । निकलिया कर २ जुलसाई ॥ दोहा ॥ सुबंधू सह सब सुजन, पहुंचे बाग मुझार । मुनिगण के पद कमल में दीना मस्तक डार ॥ मानालिया सफल हुवा अवतार ॥ ४४ ॥ संत कही अमिरस जिन वानी । मनुष्य की अमूल्य जिन्दगानी । पुद्गलो वस पापी प्रानी । रत्न सो ग्रहण करे आनी ॥ दोहा ॥ धर्म अर्थ साधन करी करो भव्य कल्याण । सरिता जलवत् जिन्दगी बीतरही सत मान ॥ नहीं क्षिण आयुष्य का इतबार ॥ ४५ ॥ बोध सुन सब जन हर्षाये । रंक ज्यों चिंतामणि पाये । नाथ इक अर्ज चरण माहें । पूर्व भव सुनना चित चाहें ॥ दोहा ॥ तद मुनिवर पूर्व चरित कहे सुनो भविलोग । नगर हस्तीपुर शुभ निलो, राय सु मित्र सुयोग ॥ पुत्र वर विश्वसैन सुखकार ॥ ४६ ॥ दया के सागर राजकुमार । दुखी जीवों को नयन निहार । तुर्त दुख का करता प्रतिकार । बधिक जन का भी करुणागार ॥ दोहा ॥ कलासार मंत्री कुंवर । शूर क्षत्री का नंद ॥ वीर पुत्र एक वैश्यका, वैद्य पुत्र जयचंद । मित्र चारों पे पूर्ण प्यार ॥ ४७ ॥ एकदा आये बाग में चाल । वहांपर लखा एक चंडाल । एकनर सूली धरत निहाल । कुंवर पूछे ये क्या अहवाल ॥ दोहा ॥ भूपण प्रभु माता तणा, इसने लिया चुराय । नृप आज्ञा सूली चढे, वर दया दरसाय । संग लिया कर सूली छुटकार ॥४८॥ दिया ज्ञान चोर तांई । व्यसन यह अलबत दुखदाई ।

हियेके अंध जगत मांई। द्रव्य वस करते अन्याई॥ दोहा॥ पाप प्रगट हो तब उसे, खबर पडे कृत कर्म्म॥ न्याय धरम सत पथ विषे, जिनकी वृति पर्म्म। वोही ले पग २ पै सतकार॥ ४९॥ कही यों दे वस्त्रादि इनाम। पठाया तस्कर गया स्वधाम। आप निज भवन आय तिहठाम। नफर का देखा झुंडविराम॥ दोहा॥ पूछा तब तलवर कहे, तात्र लिपि का राय। दुर्जन विक्रम सैन यह, जो बंधन के माय। बडा अन्याई निपट जरार॥ ५०॥ देश लूटाकर कृत्य हराम। जहर देदे मारा गजराम। तबाह इनसे होगये तमाम। सैन्य पति अपना वीर सुनाम॥ दोहा॥ छलसे ला कब्जे किया, हुक्म दिया भोमीश॥ करदो टुकडा दुष्टका, सुनत कुंवर करगीश॥ छीनके लिया स्वयं हथियार॥ ५१॥ कांपता आया विक्रम पास। सभीके चित आया विश्वास। कुंवर खुद करसी इनका नास। देख विक्रम का उडा हवास॥ दोहा॥ पर नैत्राम्बु छोडके, काट बंध तत काल। तीव्र गतिका तुरंगेंद, दीना तुरत निकाल। गया नृप तुरिपे होय सवार॥५२॥ क्रोध वशहो बोला नरपाल। पुत्र नहीं यह शत्रु चण्डाल। किया जिन देश दुखी विसराल। इन्होंकाभी होगया दयाल॥ दोहा॥ अब रिपु निर्भय होगया, करसी सत्यानाश॥ संकट की वृद्धि करी, ऐ कुपुत्र बदमास। निकल हम राज्य थकी इसवार॥ ५३॥ कुंवर कहे सुनो पूज्यवर बात। कौन गतिलहे मनुपकर घात। दुखी जनका दुख करन निपात। यही मन मेरा

जक्त विख्यात ॥ दोहा ॥ राज ऋद्धि परभव विषे कौन लेगये संग ॥ व्यर्थ ममत में आतमा, होय रही मति भंग॥ जनम वही अर्थ करें उपकार ॥ ५४ ॥ कृत्य मैं बुरा नहीं कीन्हा । तथापि शत्रु मुझ चीन्हा । आपजो अनुशासन दीन्हा । खुशी से सिरपे धर लीन्हा ॥ दोहा ॥ देश त्याग कर कुंवरजी हुए तुर्त तैयार । चरचा फैली नगरमें, हज्जारों नरनार ॥ रुदन कर करने लगे पुकार ॥ ५५ ॥ कुंवर यह रत करंड समान । आज कहां जाता नवल निधान । नगर की सोभ इन्हींसे जान । विना इनके होगा शमशान ॥ दोहा ॥ साथ हुए पुरजन कई, फिरे भूप डर लाय ॥ चार मित्र संग ना तजा, यह सच प्रेम जणाय । नगर हुआ सोभाहीन असार ॥ ५६ ॥ लंघते जा रहे वन्नगहन्न । नगर एक आया पंचम दिन्न । तहां दोजन जालाय अशन्न । सर्व मिल बैठे भुक्त करन्न ॥ दोहा ॥ तिण अवसर एक मासके उपवासी मुनिआये । देख कुंवर चउमित्र संयुत, पद वंद्या हुलसाय । हुआ जंगल में मंगलाचार ॥ ५७ ॥ दान देवन दिल उमगाया । लिया प्रासुक लख मुनिराया । उलट चित्त कुंवर वहराया । शूर कुछ दुख दिलमें लाया ॥दोहा॥ पीछे थोडा रहगया सुन मुनि पात्र उठाय ॥ पृष्ट दष्टू मुनि के लखी । जयने दिया मिटाय । अरुग हो मुनिवर करगये विहार ॥ ५८ ॥ करी उस वन के बीच विछात । कुंवर सोगया तदा चउभ्रात । सलाह करली यहां वनकी रात । र का पहरा इक इक साथ ॥ दोहा ॥ तीजी वारी जय

तणी नींद शरण झुकजात । इतने अशुभोदय तिहां हुओ अग्न उत्पात ॥ लपकती आरही जारमझार ॥ ५९ ॥ चमक जागा तब राजकुमार, दवानल देखा अति भयकार, मित्र सब को उठाय ततकार, भाग जाने का करा विचार ॥ ॥ दोहा ॥ चौतरफी ज्वाला जगी ज्यों किल्ले में केद । अब जीवत आशा नहीं लगा भयंकर खेद ॥ हाय अब किसका लें आधार ॥ ६० ॥ जहाज गत पुरुष देख चौ नीर, उसी तर करत शोर सब वीर, लपकने लागी झाल शरीर, जोश मय ऊठी ताम समीर ॥ दोहा ॥ आंधी ले उडी कुंवर को मित्र चिपक गये संग । वैश्वानर से बच गया देखा जाय. उतंग ॥ लखे ज्यों योगी जन संसार ॥ ६१ ॥ उतर आये भूँपर बड भाग, मनहु निद्रा से ऊठे जाग, अचंभा हुआ कहां गई आग: मन ही मन सोचन लगे अथाग ॥ दोहा ॥ अमर एक परगट हुआ नम्या कुंवर के पांय । मृत्यु मुख से चोर को लीन्हा आप बचाय ॥ धर्म शिक्षा दे किया उद्धार ॥ ६२ ॥ वही मैं देव हुआ महाराज, अगन की ऊठी बन में दाज, ज्ञान में देख दिया मैं साज, अदा मुझ करज किया मैं आज ॥ दोहा ॥ अब दुख कभी न आयगा, यह हम आशिर्वाद । मुद्री दे त्रिदश गया करत कुंवर गुणनाद ॥ बाद रवि काटी किरण हजार ॥ ६३ ॥ चले अब पाचों जन आगे । स्वरगण लखे जात भागे ॥ भूप इक ता पीछे लागे । हाथ शस्तर करके नागे ॥ दोहा ॥ कुंवर देख कहें ए सुजन: ये तृण भक्षक प्राण ॥ नहीं क्षत्री वट वध करन,

नीती विरुद्ध सुजाण ॥ उंच मानुष नहीं करत शिकार ॥ ६४ ॥ श्रवण सुन तुरग थकी उतरा । कुंवर के पद पर शीश धरा । दास को दीना दर्श खरा । पाप का दल सब दूर करा ॥ दोहा ॥ दुशमन पै भी करि दया, किया उलट उपगार ॥ ताम्र लिसि नृप हूं वही, सेवक तावेदार । करो मम राज तिलक स्वीकार ॥ ६५ ॥ कुंवर हिरदे से लिया लगाय । बढाया विनोद आपस माय । नगर में लाया मान बढाय । शुभोछव कर दिया पाट विठाय ॥ दोहा ॥ फेरी सर्वत् देश में राज कुवर की आन ॥ चारों मित्र बराबरी, प्रीत परम परधान ॥ राजवी हुआ छडी बरदार ॥ ६६ ॥ पिताने सुनी खबर यह कान । कुंवर सचमुच पूर्ण पुण्यवान । किया मैं अज्ञानी अपमान । बुलाया पीछा कुल वर मान ॥ दोहा ॥ कुवर मिला जा बाप से, सिर धर चरण विधान ॥ तोक लिया छाती लगा, तूं नव रत्न निधान । करो यह राज तुझे इख्तयार ॥ ६७ ॥ भूप तज राज लेलिया जोग । कुंवर कुछ काल राज ऋद्ध भोग । मित्र चारों संग बिना वियोग । काल कर गये नवमें सुरलोग ॥ दोहा ॥ विश्वसैन रतिसारजी, हुआ पुण्य बहुलाय। शूर सुबंधू सेठजी, बांधीदत्त अंतराय । गया धन हुआ दुखी नादार ॥ ६८ ॥ दान के समय मित्र तीनों । स्वल्प भावों में मोह कीन्हों । पुरुष छिन महिला भव लीनों । बिना सम्मति तुम दत दीनो ॥ दोहा ॥ तीन दिवस अन्न न रहे, यह पूर्व भवजान ॥ दुख सुख का संयोग है

कृत्य कर्म परमान । समझलो संदेह नहीं लिगार ॥ ६९ ॥ किया दुशमन का भी दुख दूर । लिया इह भव में सुख भरपूर । सभाजन सुनकर हुआ सनूर । सर्वही सत्य सुवयन हुजूर ॥ दोहा ॥ कृप नृप पूछे मुनिवरा, तरुण आपकी वेश । क्यों निकले जग त्याग के, मुझ मन भरम विशेष प्रगट दीखे संयम दुख भार ॥ ७० ॥ तरुणता इसमें का करती । खरीतो याही मुनिव्रती । वृद्धपन में आंखें झरती । शुद्ध निज तनकी ना परती ॥ दोहा ॥ निर्जरिता निरोग्यता, इन्द्रिय बल हो तन्न । धर्म कृत्य तब तक हुवे, यह जिनराज वचन्न ॥ सुनो मम अनुभव का अधिकार ॥७१॥ नगर सूरजपुर सुखकारो । नरपति महेन्द्र सुगुणवारो । उन्हों को मैं पुत्तर प्यारो । चन्द्र यश नाम दियो म्हारो ॥ दोहा ॥ वंशोचित्त शिक्षा पढी, हुआ विशारद पूर ॥ राज्यानल की जलन से, जनक होगये दूर ॥ बताया बोध मुझे हितकार ॥ ७२ ॥ राजसुख विष मिलिया पकवान । करत पद २ आतम गुणहान । रत्न मणि नग मोह दीप समान । पतंग नर लुब्ध होमदे प्राण ॥दोहा॥ छत्र शीश छाया हुआ, लखे न सूर्य विवेक । पानी ग्रहण कर समुद्र का, हुवा पुरुष अनेक । खेंच पत्नी जा धरे पतार ॥ ७३ ॥ भरोसा नहीं एक क्षिनका । कष्ट में नहीं है को किनका । पुत्र अतः छोड संग इनका । गृहूं मैं मारग श्री जिनका ॥ दोहा ॥ पूज्य पितृ वर योगले, किया आतम उद्धार ॥ मैं परजा पालन लगा, न्याय नीति अनुसार । नार रत्ना-

चली मम सुखकार ॥ ७४ ॥ पद्मिनी कर २ प्रेम संद । फसाया ज्यों दलदल गयइंद । काज कुल छोड हुआ मोह अंध । मानता यही परम आनंद ॥ दोहा ॥ मंत्रि आदि बकता सदा, मैं नहीं देता ध्यान ॥ मुक्तागिरि पै रम रहा देखा सुपन प्रधान । जागकर करने लगा विचार ॥ ७५ ॥ स्वप्न तो मुक्ती का दाता । भोग में मैं हो रहा राता । परस्पर अनबन दिखलाता । पडा दुविधा में शरमाता ॥दोहा॥ बंदी जनके शब्द सुन, आया बीच दरबार ॥ एक पुरुष के हाथ में, कमल देख उसबार । कमल नैनी का हुआ संचार ॥ ७६ ॥ नेत्र रणबास तर्फ कीन्हा । एक नर निकला लखलीना । बडा सुंदर सूरत छबिना । वस्त्र तन पर अमूल्य पहिना ॥ दोहा ॥ ग्रिवालिंगन मुझ प्रिया, कर निकली उन लार ॥ मैं झेंपा ये कौन है, लेजाता मुझनार । त्रिया मुझको दीन्हा ललकार ॥ ७७ ॥ अरे चल बकता संगत नर । हुई मैं दुखी केद के घर । आज तुझ छाती पें पग धर । चली हुं करना हो सोकर ॥दोहा॥ खा सन्नाटा खडग ले, रपटा मारण काज । भाग गया दोनों निकल, मैं लागा संग बाज । उसे कर सक्ता नहीं गिरफ्तार ॥ ७८ ॥ नगर बाहर देखा लशकर । सर्वयुत कंचन के जेवर । मध्य इक हस्ती पर वह नर । जांघ पर बैठी मम सुंदर ॥ दोहा ॥ गलजप्पी डाली हुइ, मुझे दूर पर जोय । अंगूठा दिखला दिया, मैं अतिशय दुखी होय । सोचने लगा कर्म फिटकार ॥ ७९ ॥ आग विष शस्त्रोगुण खानी । हवा सुनी गद

मद पानी । आपभी इनको दो ज्ञानी । यथार्थ वैरी इस्तानी ॥ दोहा ॥ इन राक्षसी के प्रेम में, हुआ अन्ध दिन रैन ॥ धिक २ मैं पापी तजी, निर्मल कुल की पैन ॥ हुआ अपमान जबर संसार ॥८०॥ अगर इस वक्त लेउं मैं जोग । कलंकित कहसी मुझ सब लोग । उतारूं प्रथम हमारा रोग । करूं दुशमन का नेस्त नियोग ॥ दोहा ॥ मम मंत्री तिण अवसरे, सज सैना चढआय । छिडा समर भीषण तहां, दीन्हा रक्त बहाय । करी मैं बाणों की बोछार ॥ ८१ ॥ बीतगई मुझ सैना सारी । फौज उनकी कुछ नहीं हारी । कोप-कर मैं छलांग मारी । चढा गज शीश करन ख्वारी ॥ दोहा ॥ पत्थर वत् मुझ पकडके, फेंक दिया बहु दूर ॥ दुर्गनपूर में जा धसा, मैं दुखिया भरपूर ॥ होय मरने को तयार ॥ ८२ ॥ होय मुझ सिल्क सुकृत का अंश । नारि मति [illegible] [illegible] मब वंश । तुर्त ही करन प्राण विध्वंश । कूए में [illegible] पडा निशंश ॥ दोहा ॥ कूप बदल आसन हुआ, [illegible] [illegible] अमकास ॥ सामंतादिक सब खडा, राणीजी रणवास । [illegible] रही सखियन के परवार ॥ ८३ ॥ देख मुझ अति आश्चर्य आया । स्वप्नसी हुइ अजब माया । दिव्य छवि धर गुरु प्रगटाया । देख जाति समरण पाया ॥ दोहा ॥ पूर्व [illegible] परिचय हुआ, किया कोल इस लार । मोहाचित [illegible] मैं [illegible] ॥ तुम करना उद्धार । बताया सब इन चमत्कार ॥ [illegible] मित्र का कीना बहु सन्मान । क्षणिक मैं [illegible] [illegible] हुं मैं राज पाट धन पान । छोड दीक्षा की [illegible]

॥दोहा॥ सुन अजीव मुनि मुख कथा, तत्क्षण कृप नरेश। राज ऋद्धि रतिसारके, कर सावत्थी पेश ॥ योग ले कीन्हा भव निस्तार ॥८५॥ न्याय शासन करके रतिसार। सुधारा सबका कुल आचार। दुष्ट कर्तव्य का कर प्रतिकार। चलाया धर्म नीति व्यापार ॥ दोहा ॥ सीलवती वनिता सभी, चोर जार नही नाम। झगडा दंगा देशमे, गया विदेश तमाम ॥ रोगका होता नहीं परचार ॥ ८६ ॥ भूत वातादिक भय भागा। समय पर धन वर्षन लागा। मेदिनी में अमिरस जागा। फिरत जन नव लंकृत बागा ॥ दोहा ॥ पूज्य पिता रतिसार के, महिष्मती भूपाल। सुन वैभव सुकुमारकी, बुलवाके ततकाल। सौंप दिया सब विधि कारगुजार ॥ ८७ ॥ पद्मिनी तिहुं संग को अवसर। भवन में बैठा भान भँवर। मुखाकृति निरख रहा दिलधर। लगी चन्दन की बिंदु सुहर ॥ दोहा ॥ प्रिय बदनी यह बिन्दुका, सोभे नही भर पूर ॥ मृगमद की मै अंकदूँ, कैसा झलके नूर। कांच ले देखो फेर लिलार ॥ ८८ ॥ वदी की विंदू हरलीनी। हुई जिमनिशि इन्दूहीनी। वदन की क्रांती गई छीनी। भूपादिल खेद प्रगट कीनी ॥ दोहा ॥ सब आभूषण अंगके, क्रमशः दिये उतराय। पुष्प पत्र बिन वेलडी, ज्यों रानी देखाय। फक्त तन की शोभा-लंकार ॥ ८९ ॥ कटे नही बिन मंझन तन मल्ल। इसी भांती कर्मों का दल्ल। कटे नहीं विना ध्यान उज्वल्ल।

श्रद्धा जल करत विमल्ल ॥ दोहा ॥ दर्शन चारित

ज्ञान का, वर भावालंकार । इनबिन सब भूषण विफल, यह सच्चा शृंगार ॥ पुद्गली नाशवान निर्धार ॥ ९० ॥ हुई आतम श्रेणी वर्द्धमान । चढे अपूर्व करण गुण स्थान । चतुर घन कर्म काट पुन्यवान । प्रगट कर लीना केवल ज्ञान ॥दोहा॥ सुरपति आ मुनिवेष दे, किया शुभोछव खूब । तीनों तिरिया चकित हो आश्चर्य में गई डूब ॥ नाथजी यह कैसी झनकार ॥ ९१ ॥ प्रकासी वाणी गुण छंदा । मोहोद्यत प्राणी जग अंधा । आठ की गांठ मांहिं बंधा, करत निशि दिन फिर यही धंदा ॥ दोहा ॥ यह आतंक अनादिका, लगा जीव के संग । धर्मौपधि विन ना मिटे, समझो भव्य सुचंग ॥ सुख इच्छक लो हिरदे धार ॥९२॥ सुनत वैराग रंग भीनी । सुबंधु अरु तिरिया तीनी । जगत तज जिन दिक्षा लीनी । करम काटन करणी कीनी ॥ दोहा ॥ अंत समय रतिसारजी, पाये पद निर्वान ॥ तीनों सागर सुख लिया, चारों विजय विमान । पुन्यका यह फल अपरंपार ॥ ९३ ॥ क्षुधित मानुष अन विना उदास । तृषित जन मेटन चैंहे पियास । तीसरा वर्तन बिना निरास । तूर्य इच्छक सुख दाय निवास ॥ दोहा ॥ पंचम बिस्तर बिन दुखी, सब का कष्ट निवार । मन वच तन की सहायता, नवम् नम्र सतकार ॥ पुन्य नव भाखा जगदाधार ॥ ९४ ॥ भव्य यह बोध हिये धरना । धनिक हो गर्भ नहीं करना । दुखी जीवों का दुख हरना । पुन्य संचित कर भवतरना ॥ दोहा ॥ कथा देख रचना रची,

स्वल्प बुद्धि अनुसार ॥ न्यूनाधिक वर्णित किया, दिया मिथ्या दुष्कृत उच्चार ॥ १५ ॥ अयन, मैन, तत्त्व, सुदर्शन साल । पद्मिनी प्रियवर मास रसाल । नमन निशिकर तिथि मंगल माल । महागढ मालव देश विशाल ॥ दोहा ॥ पूज्य एकलिंगदासजी, महोपकारी महंत । तस्य शिष्य मुनी चौथमल, अहनिशि पद प्रणमंत ॥ सदा हो. पग २ जय जयकार । पुण्य बांधो सुगुणा नरनार ॥ १६ ॥

इतिश्री रतिसार चरित्र पुण्य प्रबोधक.

॥ सम्पूर्णम् ॥

नंबर २. न्याय चर्चा.

केशी स्वामी गौतम स्वामी की ढाल

तर्ज गनगोर की

सकल गुण सायरा हो दोऊ मुनि जिन शासन शृंगार ॥ टेर ॥ पार्श्व प्रभुने वीसवां हो जिनवर जग पूजित अरिहंत ॥ धर्म तीर्थ स्थापन किया हो जिनवर, सर्वज्ञ देव महंत ॥ स० ॥ १ ॥ तस शिष्य महायशना धणी हो मुनिवर त्रिजग दीप समान ॥ केशी श्रमण संतानिया हो मु० सम्पन्न चारित ज्ञान ॥ स० ॥ २ ॥ तीन ज्ञान करी सोहता हो मु० पंचसे शिष्य परिवार । विचरत २ आविया हो मु० सावत्थी नगरी वहार ॥ स० ३ ॥ तिंदूक वर उद्यानमें हो मु० जोहे नगरी पास । निर्वद्य सैजां जांचने हो मु० सुखसे किया निवास ॥ ४ ॥ तिण अवसर चौवीसवां हो जिनवर तिर्थंकर जगभान । कीर्तिवंत तिलोयना हो जिनवर भगवंत श्री वर्द्धमान ॥ ५ ॥ तस शिष्य दीपक धर्मनाहो मु० यशधारी सुविनीत । गणपति गौतम नामना हो मु० पारगनाण चरीत ॥ ६ ॥ वारंगी चउ नाणिया हो मु० संग शत पंच मुनिन्द । तेपिण नगरी सावन्थी हो मु० धारिया पद अरविंद ॥ ७ ॥ कोष्टक श्रेष्ट सुवाग में हो मु० तेपण नगर नजीक । योग्य वस्तु जाचन करी हो मु० वासकिया निरभीक ॥ ८ ॥ दोनों मुनि सिर

सेहराहो मु० दोनों महिमावंत ॥ दोनो नायक धर्मना हो मु० श्रेष्ट समाधीवंत ॥ ९ ॥ शिष्य दोई समुदायनाहो मु० तप संयम गुणवंत । आपस में अविलोकतां हो मु० चिंता उपनी अतंत ॥ १० ॥ धर्म वरत में आंतरा हो मु० दीखे प्रगट विरुद्ध । किरियापण मिलती नही हो मु० किनकी शुद्धाशुद्ध ॥ ११ ॥ चउयामिक मग हमतणा हो मु० भाख्यो पार्श्वनाथ । वीरजिनद इनको दियाहो मु० पंच विरत प्रख्यात ॥ १२ ॥ पंच वरण विन मानका हो मु० शित पट मित परमान । एकही साधन दोउतणा हो मु० क्रिया फरक किमजान ॥ १३ ॥ जाणी शिष्य विचारणा हो मु० उभय गणाधिश आप । करन समागम चित चह्यो हो मु० ज्युं हुए सव दिल साफ ॥ १४ ॥ केशी मुनि गुरु कुल अच्छे हो मु० गौतम विनय विचार । खुद तिंदूक वन आविया हो मु० ले शिष्यगण परवार ॥ १५ ॥ गौतम आया देखने हो मु० श्री केशी अणगार । योग्य सुसेवा सांचवीहो मु० शुद्ध मन हर्ष अपार ॥ १६ ॥ दर्भ तृणादिक संथरियाहो मु० कीन्हा आप दुभाग । शीघ्र समर्पण करदिया हो मु० धरके अति अनुराग ॥ १७ ॥ केशी गौतम तिण समय हो मु० वैठा अधिक सोभाय । चन्द्र सूर्यनी ओपमा हो मु० इनमे आश्चर्य नाय ॥ १८ ॥ अन्य दर्शनीकुतूहली हो मु० वहुला पशु समान । गृहस्थ अनेक प्रकार का हो मु० जुड्या हजारां आन ॥ १९ ॥

व्यन्तर ज्योतिषी हो मु० वैमानिक सुरताम ॥ होय

अचंभित आवीयाहो मु० प्रगट खड़ा तिह ठाम ॥ २० ॥
तब केशी मुनि बोलिया हो मु० सुण गौतम गण नाह ।
जोहो अनुमति तुम तणी हो गौतम पूछण की लगी चाह
॥ २१ ॥ भगवन् आज्ञा हम तणीहो मु० पूछो इच्छा जेम ।
अनुमति पा केशी मुनी हो मु० पूछण लागा एम ॥ २२ ॥
चार महाव्रत मुझ दिया हो गौ० श्री पार्श्व जिनराज । वीर
प्रभुजी तुम भणी हो गौ० पंच दिया किण काज ॥ २३ ॥
एकही मग मुकती तणो हो गौ० दुविधा क्यों हुइ खास ॥
उपजे नहीं किस कारणे हो गौ० तुझमन अविश्वास ॥२४॥
सुण गौतम दिलमें किया हो मु० आलोचन बुद्धवंत । पर-
मार्थ निर्णय करी हो मु० बोल्या सुन भगवंत ॥ २५ ॥
प्रथम तीर्थ शठ सरलिया हो मु० अंतिम जड अरुवंत ।
दक्ष सरल मध्यम कह्या हो मु० इम दो धर्म निशंक ॥ २६ ॥
प्रथम चरिम तीर्थ मुनि हो मु० दुष्कर निर अतिचार ।
सुलभ स्वच्छ पालन करे हो मु० बावीस जिन अणगार
॥ २७ ॥ श्रेष्ट सुमेधा तुम तणी हो गौ० टाल्यो मम संदेह
फिर भी संशय हम तणो हो गो. भाखू सुण गुण गेह
॥ २८ ॥ मुझ पठ बान वर्ण तणा हो गौ. शुक्लाम्बर तो
सरीर । दो पर वरती किम करी हो गौ. पार्श्व जिन महा-
वीर ॥ २९ ॥ कारण एक ही सब तणो हो गौ. न्यूनाधिक
का भेद । देखी बुद्ध जन तुब दिले हो गौ. किम नहीं
उपजे खेद ॥ ३० ॥ निर्मूछित निर्ग्रंथने हो मु० पंचही वर्ण
समान । ममत प्रमत मुनि वीरनाहो मु० कल्प रखा

भगवान ॥ ३१ ॥ लोक प्रतीती कारण हो मु० वस्त्र रखे अणगार । संयम लाज निवाहवा हो मु० कारण पट व्यवहार ॥ ३२ ॥ व्यवहारिक साधन थकी हो मु० सत पथ सहज जणाय । ज्ञान चरण दर्शन तणा हो मु० निश्चय गुण प्रगटाय ॥ ३३ ॥ श्रेष्ट सुमेधा तुमतणी हो गौ० टाल्यो मम सन्देह । फिरभी संशय हम तणो हो गौ० भाखू सुण गुणगेह ॥ ३४ ॥ हज्जारों रिपुदल लग्या हो गौ० तुझने कब्ज करन । पिण तुम क्षिणमे सर्वने हो गौ० जीत्या कौन जतन ॥ ३५ ॥ इक जीते पंच जीतीया हो मु० पंच अपेक्षादश ॥ मुखिया दश जीती लिया हो मु० सर्व शत्रु हुआ वश ॥ ३६ ॥ कुण दुशमण परगट करो हो गौ० जीत किया कांई सार । विनय साध गौतम कहे हो मु० सुन प्रभु प्रगट विचार ॥ ३७ ॥ आतम वश करतां थकां हो मु० कषाय इन्द्री जीत । जिन शासन के न्याय से हो मु० विचरूं परम पुनीत ॥ ३८ ॥ श्रेष्ट सुमेधा तुम तणी हो गौ० ॥ ३९ ॥ फास बंधाणा जीवडा हो गौ० दीखे जगत अनेक । तूं वायू इव किम हुया हो गौ० यह मुझ आश्चर्य एक ॥ ४० ॥ मूलथकी छेदन करी हो मुनि० जो थी परबल फास । मारुतवत् लघु होयने हो मु० विचरुं सुख विलास ॥ ४१ ॥ ते फासी कहो केहवी हो गौ० छूटण दुक्करकार । मुझ इच्छा सुणवा तणी हो गौ० कहे गौतम गणधार ॥ ४२ ॥ राग द्वेष बंधन बडाहो मु० ... फांस स्नेह । ते छेदी विचरुं सदा हो मु० जिन

आज्ञा सिर लेह ॥ ४३ ॥ श्रेष्ट सुमेधा तुम तणी हो गौ० ॥ ४४ ॥ हिरदे विषफल बेलडी हो गौ० रही तुमारे फैल। ते अब नजरन आवती हो गौ० काढी केम उखेल ॥ ४५ ॥ ते विष वेल डरामणी हो मु० छेदन करी समूल। मुक्त हुओ विषफल थकी हो मु० विचरुं शासन रूल ॥ ४६ ॥ कौन लता भय कारणी हो गौ० सुनन चहूं विरतंत। गौतम गण पति विनवेहो मु० दाखू यही उदंत ॥ ४७ ॥ भीमलता तृष्णा तणी हो मु० पसर रही जगमाय। मैं उखार अलगी करी हो मु० विचरूं जिनमत न्याय ॥४८॥ श्रेष्ट सुमधा तुम तणी हो गौ० ॥ ४९ ॥ धकतीथी तुझ अंगमें हो गौ० ज्वाला घोर अतंत। शमन करी किस रीत से हो गौ० ते भाखो बुद्धवंत ॥ ५० ॥ मेघ महा वरसाद का हो मु० उत्तम पाणी सिंच। शांतकरी वैश्वानरी हो मु० जागे नही पुनि इंच ॥ ५१ ॥ कौन अगन जग जालनहो गौ० कैसा उत्तम पान। गौतम कहे प्रभु साभलो हो मु० यह जल अनल बयान ॥ ५२ ॥ अगनी चार कषायनीहो मु० श्रुत शील तपनीर। उपशम करदी सर्वथा हो मु० धारा पाणी वीर॥ ५३ ॥ श्रेष्ट सुमेधा तुम तणीहो ॥ ५४ ॥ दुष्ट तुरग इत उत भमेहो गौ० उन्मार्ग लेजाय। विपथन पटकत तुझ भणीहो गौ० किम कीनो वश माय ॥ ५५ ॥ सबल रसी कर बांधने हो मु० मै वश कियो तुरंग। सुपथ सदाही संचरेहो मु० करत न आण उलंघ ॥ ५६ ॥ कौन तुरंग दुर्मति कह्यो हो गौ० कुणरासी कहवाय। गौतम

नमित होयनेहो मु० भेद अखेद बताय ॥ ५७ ॥ मनहयं दुष्ट चपल घणो हो मु० बांध्यो रसी सिधंत । धर्म सिखावण देयनेहो मु० बरतावुं सद् पंथ ॥ ५८ ॥ श्रेष्ट सुमेधा तुम तणी हो ॥ ५९ ॥ कुमत घणा इह लोकमें हो गौ० फसिया जीव अनेक । तूं तिण संग किम नही मिल्यो हो गौ० रह्यो सुपथ कर टेक ॥ ६० ॥ सुपथ कुपथ अवलंबियाहो मु० जो प्राणी जगमाय । मैं जाण्या निर्णय करी हो मु० दृढरह्यो इण न्याय ॥ ६१ ॥ सतमत दुरमत जग विपेहो गौ० कौन कह्या गुनवंत । तव गौतम सुविचार ने हो मु० वर्णन किया नितंत ॥ ६२ ॥ कपिलादिक पाखंडिया हो मु० सर्व कुमत नाजान । तीर्थंकर निर देशियो हो मु० ते सत पथ परधान ॥ ६३ ॥ श्रेष्ट सुमेधा तुम तणी हो गौ० ॥ ६४ ॥ महोदक वेग वही रह्यो हो गौ० डूबत जीव तणाय । द्वीप किसो तिण बीचमें हो गौ० त्राण शरण सुख दाय ॥ ६५ ॥ द्वीप परम हितकारियो हो मु० महोदक वेग विचाल । सुख इच्छक अवलंबनेहो मु० होय पलक में निहाल ॥ ६६ ॥ कुण द्वीपो कुण वेगहै हो गौ० ते परकास मुनिन्द । गौतम कहे परगट करूं हो मु० सुण हो पूज्य गणिंद ॥ ६७ ॥ जन्म मर्ण मह वेगमें हो मु० डूबत जग संसार । हित सुख इच्छक जीवने हो मु० धर्म द्वीप आधार ॥ ६८ ॥ श्रेष्ट सुमेधा तुम तणी हो गौ० ॥ ६९ ॥ महार्णव में पडी नावडी हो गौ० चौदिशि तरंग गार । तिणपर तूं आरुढ हुओ हो गौ० किसतर पासी

पार ॥ ७० ॥ होय सछिद्री नावडी हो मु० ते नही पहुंचे तीर ॥ छेद्र रहित न डर किसोहो मु० पारगता अखीर ॥ ७१ ॥ पूछे केशी महामुनीहो गौ० कौन तरह की नाव। तब गणधर गौतम कहे हो मु० यह बतलाऊं भाव ॥७२॥ चेतन निर्यामक कह्या हो मु० खेवत नाव शरीर। संवृत संत ऋषी हुआ हो मु० जग सागर से तीर ॥ ७३ ॥ श्रेष्ट सुमेधा तुम तणी हो ॥ ७४ ॥ घोर तमस अंधकार में हो गौ० पडिया प्राणी व्होत ॥ सब दुखियारा लोकमें हो गौ० कुण करसी उद्योत ॥ ७५ ॥ उदय हुओ रवि निर्मलो हो मु० सर्व लोक परकास। जगवासी सब जीवका हो मु० करसी तम का नाश ॥ ७६ ॥ कुण सूरज परगट हुआ हो गौ० मेटन किस अंधकार ॥ गौतम कहे अरपन करूं हो मु० यह पिण तुम चरणार ॥ ७७ ॥ क्षिण संसारी ऊगियो हो मु० सर्वज्ञ जिन दिनकार ॥ लोक उजेला वही करेहो मु० हर मिथ्या अंधकार ॥ ७८ ॥ श्रेष्ट सुमेधा तुम तणी हो० ॥ ७९ ॥ दुख सारीरिक मानसी हो गौ० तांम जीव पीडंत। कौण स्थान शिव क्षेम का हो गौ० सब दुख रहत इकंत ॥ ८० ॥ है एक स्थानक साश्वतोहो मु० लोक अग्र दुप्राय। जनम जरा मरणो नही हो मु० नहीं व्याधी न विलाप ॥ ८१ ॥ स्थानक कुण किम रीतनो हो गौ० ते कहे ज्ञान निधान। गौतम उत्तम वैनधी हो मु० भाखे अंतिम व्यान ॥ ८२ ॥ कर्म रहित दो दुख नहीं हो मु० सिद्धगति लोकांत। परम क्षेम शिव तिण जगां हो मु०

गया ऋषिश्वर महंत ॥ ८३ ॥ एहवो साश्वत स्थल कह्यो हो मु० मिलना कठिन अतंत ॥ पाया चो सोचे नहीं हो मु० किया भवों का अंत ॥ ८४ ॥ निर्मल प्रज्ञा ताहरी हो गौ० कर न सकूं विरतंत । संशयातीत तुझे नमूं हो गौ० महोदधि सर्व सिद्धंत ॥ ८५ ॥ संशय छिन केशीमुनी हो गुणिजन, घोर पराक्रम धार । मस्तक धर वंदन करी हो गुणि० गौतम के चरणार ॥ ८६ ॥ केशी मुनी लिया भावसे हो गु० पंच महाव्रत धार । परिवर्ती पलटो सभी हो गु० समय काल सुविचार ॥ ८७ ॥ नित्य समागम होवता हो गु० तिंदूक वर उद्यान । वर्धक सूत्राचारका हो गु० धारा परम विधान ॥ ८८ ॥ तुष्टित हुई सब परषदा हो गु० हुआ समुद्यम वंत । प्रसन्न होय स्तवन करी हो गु० धन्य युगल भगवंत ॥ ८९ ॥ श्रीमद् उत्तराध्ययन का हो गु० यह तेवीसवांध्याय । अल्प मति कविता रची हो गु० बाल ख्याल के न्याय ॥ ९० ॥ मिथ्या दुष्कृत मैं दिया हो गु० जो किया सूत्र विरुद्ध । मुझ पर महर विचार ने हो गु० कविजन करजो शुद्ध ॥ ९१ ॥ पूज्यवर एकलिंग-दासजी हो गु० सुख संपत दातार । चौथमल के चित चढ्याहो गु० सीतामहु गुलजार ॥ ९२ ॥

इति श्री केशी गौतम संवाद सम्पूर्णम् ॥

नंबर ३ त्रियादुर्भाव

झूठल श्रावक का चरित्र

तर्ज गोपीचन्द लडका ।

तू समझ सयाना, नारी निश्चय में कारी नागणी ॥ टेर ॥ भद्दलपुर वर नगर मनोहर श्रीवन श्रेष्ट उद्यान । न्यायवंत नीती गुण धारक जितशत्रु राजान ॥ तू ॥ १ ॥ तिणपुर में गाथापति रहता झूठल नाम प्रसिद्ध । अंगजित् अडचास क्रोडकी घरमें सुवर्ण ऋद्ध ॥ २ ॥ घर तिरिया बत्तीस रोहिणी जेष्ट श्रेष्ट सुखमाल । सोलह गौ वर्ग तेहनी सेरे करत सदा प्रतिपाल ॥ ३ ॥ भव्य भाग्यसे नेमि जिनेश्वर मुनि संग सहस्त्र अठार । समोसर्या उद्यान में सेरे सुर करे जय जयकार ॥ ४ ॥ जितशत्रु नरनाथ वंदवा चलिया मह मंडान । पंच अभिगम करके विधि से भेट्या श्री भगवान ॥ ५ ॥ पुरवासी पुन्यवंत हज्जारों वंदन चल्या तुरंत । झूठलजी ने सुना लोक मुख प्रभु आगम विरतंत ॥ ६ ॥ तन पावन कर वस्त्राभरणसज आया जिन चरणार । अमृतधारा सुणी देशना जनम सुधारण हार ॥ ७ ॥ राजादिक हुलसंत वंत हो आया निज घर चाल । परमानन्द तुष्टित हो झूठल बोला वचन रसाल ॥ ८ ॥ धन्य जिनेश्वर दर्श आपका पावे कोई पुन्यवान । राजेश्वर केई इभ्भरा मुनिपद ले कल्यान ॥ ९ ॥ मैं मुनिव्रत समर्थ

नहीं प्रभुजा गृहस्थ धर्म दो दान ॥ जिम सुख हो तिमकर सुख इच्छक देरी में नुकसान ॥ १० ॥ पंच अनुवृत धारण कीन्हा गौ धन मूल रखंत । चौथे वरत कुशील सर्वथा त्याग किया मतिवंत ॥ ११ ॥ योजन एक चार दिशि राखी उर्ध्व अधो निजवास। छवीसमें का पांच राख तजि एक वीसकी आश ॥ १२ ॥ अल्प मौल्य मय सूत वस्त्र अंगुली में मुद्री एक। साल चणे की दाल अचित उदक पच्चखाण विशेष॥ १३॥ पक्ष सातमें छठ २ तपसा मैं करस्यूं करतार । तेले २ पक्ष तेरवें पारणे आंबिल अहार ॥ १४ ॥ अनुवृत पंच सप्त शिक्षावृत, लिया जिनंद मुख धार । कर वंदन झूठल घर आये जिनवर कर गये विहार ॥ १५ ॥ अभिगत जीवा-जीव श्राद्ध वृत पालत निर अतिचार । शुष्क शरीर किया तपस्यासे दी सब ममत उतार ॥ १६ ॥ एक समय तिरिया सब मिलके दिलमें किया विचार । विन दूषण हम सबको छंडी कथा धारी भरतार ॥ १७ ॥ पति पा आय विनय से वनिता बोली सुन मम नाथ । दिन प्रति दिन तन दुर्बल होता कौन रोग उत्पात ॥ १८ ॥ कौशल्य वैद्य हकीम बुलाके, करिये योग्य इलाज । घर कंचन का कोष भरा है वो है फिर किण काज ॥ १९ ॥ प्रियतम कहे सुण प्राणवल्लभा, मुझ तन में नहीं रोग । जो तुमको दुर्बल पन दीसे फक्त तपोधन जोग ॥ २० ॥ हम जाणा आतंक उन्पति, आये नेमजी चाल । उनकी संगत में तुम लागा य रोग कराल ॥ २१ ॥ एक नारि नहीं राख सके

तोरण पै दी छटकाय । खुद रोगी औरों को रोगी करत फिरत जग मांय ॥ २२ ॥ नहीं तो किस कारण हम सबको कर दी नाथ निराश । हास्य विलास अलाप सलापा छूटा सब विश्वास ॥ २३ ॥ हाव भाव उच रंग विचेष्टा बतलाया रंग राग । निर मोहित प्रीतम को देखी लगी कोप की आग ॥ २४ ॥ जो जीवन की आशा हो तो छोड धर्म का काम । नहीं तर हम इलाज करेंगे यों कहगई तमाम ॥ २५ ॥ एकादश प्रतिमाकाऽराधन, कीना यथा प्रमाण । उत्थानादिक नष्ट हुआ नजदीक लखा अवसान ॥ २६ ॥ अनसन कर बैठे झूठलजी ध्यावत आतम ध्यान । उन्नीसवें दिन शुद्ध भावों से लीना अवधिज्ञान ॥ २७ ॥ उपसर्ग देखा स्वआतम पै निज तिरिया के जोग । कल दो मुहूर्त दिवस चढे पै, पहुंचासी पर लोग ॥ २८ ॥ कर सर्वत् पच्चखान अकांपित बैठे ध्यान लगाय । छिद्र देखती फिरे कामण्या मिला न एक उपाय ॥ २९ ॥ उसी समय सब होय इकट्ठी ऐसी सलाह विचारी । प्रियतम का किंचित सुख नाहीं आपन सब दुखियारी ॥ ३० ॥ अनल गरल शस्त्रादिक करके करदो इनका नाश । फिर आपन सुखसे विचरेंगे करस्यां भोग विलास ॥ ३१ ॥ छिद्र देख अवकास निकाला काष्ट घास घृत लाके । चौ तरफी झूठल के चुनके भगगई आग लगा के ॥ ३२ ॥ अति उज्वल कटु भय मह वेदन दुष्कर २ कारी । पिण निक्षोभित झूठलजी दिन पडस सहन करी सारी ॥ ३३ ॥ श्रमणोपासक व्रत

आराधन किया छमच्छर तीश । सर्वायुप शतपंच वरसका अनशन भत संतीस ॥ ३४ ॥ आयुपकर ईशाण कल्पमें कपिल विमान मुझार । द्वादश पलकी देव स्थिती ले पाया सुख श्रीकार ॥ ३५ ॥ देवलोकसे निकल विदेहवर जन्म श्रेष्ट कुलमाय । कर करणी केवऽ लेजासी शिव गति कर्म खपाय ॥ ३६ ॥ या विधि नारी नागणी सरे विन स्वार्थ डस जाय । परदेशी का प्राण खो दिया सत्शास्तर का न्याय ॥ ३७ ॥मेवाडी मुनि चौथमल एक आया धर्म दलाल। धुर फागण उज्जैन सहर। उन्नीसो इक्यासी साल ॥ तूं॥ ३८॥

इति श्री झूटल श्रमणोपासक चरित्र

॥ सम्पूर्णम् ॥

नं० ४ धर्मरक्षक

(श्री विष्णु कुमार चरित्र)

तर्ज पूर्ववत्

वितराग धर्म की, रक्षा कीन्ही मुनि विष्णु कुमारजी ॥ टेर ॥ गजपुर नगर भूप पद्मोतर ज्वाला दे पट नार । सिंह स्वप्न अविलोकने सरे जायो विष्णुकुमार । कालांतर हुवो नवमो चक्री महापद्म सुखकार ॥ वि० ॥ १ ॥ लखमा-राणी दूसरी सरे मानत मारगवाम । मंत्री पदपर विप्र नमूची, नास्तिक दुष्ट प्रणाम । बहु शिष्य के संगपर वस्या सरे स्वस्तिक सूरि गुणधाम ॥ २ ॥ राजादिक वंदन गया सरे मांडी वाद प्रधान । प्रथम प्रश्न में खिष्ट कियो इक लघु शिष्य गुणवान । सर्व मस्करी करी विप्र को हुओ अधिक अपमान ॥ ३ ॥ निशि में मुनि मारण को धायो खील दियो सुर आय । प्रात हुआ शर्मित हुओस घर पहुंच्यो लाज गमाय । अवसर आयां बदला लेगा लीन्ही गांठ लगाय ॥ ४ ॥ एक समय कोई देश लुटेरो पकड नमूची लायो । महापद्म खुशहो वर दीन्हो सो भंडार रखायो । ज्वाला सत्गुरु वांदन चाली लखमा गज अटकायो ॥ ५ ॥ मैं जाऊंगी जोगी वांदन रोकी दोऊ नरेश । माय मुराद असफल देख महापद्म गयो परदेश । व्योम पंथ चल अंग देशमें हुआ आप परवेश ॥ ६ ॥ वनमें तापस वेश भूप हर गाज खोय विलखंत । मदना कन्या देख कुंवर को

राची प्रेम अत्यंत । काम विवश कुंवरी को देखी मात कहे विरतंत ॥ ७ ॥ जिन २ पै क्यों दिल ललचावे ज्योतिष वयन विचार । महापदम भरतेश्वर होगा तेरा वर भरतार। सुन कूंवर हिरदे में धरके आगे किया विहार ॥ ८ ॥ सिद्ध-पुर में महासैन नृप की कुंवरीगज मुखतांई । छोडाई राजा परणाई सुता आनंद मांई । एक खेचरी अधर उठाके रूपा-चल ले आई ॥ ९ ॥ इन्द्रपुरी का इन्द्ररायकी, जयचन्द्रा सुकुमारी । पुरुष द्वेपणी नाम सुनतही लेती शीश उतारी । महापद्म को रूप देखके, विसरी सुध बुध सारी ॥ १० ॥ व्याह किया तिण साथ वहांपर, हुआ चक्र उत्पन्न । साध लिया पट खंड आपने, नम्या सर्व राजन्न । मदनावली परण श्वसुराके, की चंपा अर्पन्न ॥ ११ ॥ लख चौरासी गज रथ घोडा, रमणी चौसट हजार । नवनिधि चौदह रतन पुण्यसे, सोलह सहस्र सुर लार । साढा तीन कोटी मुख आगे, वाजिंतर झणकार ॥ १२ ॥ गजपुर आये सुन पितु माता भ्रातादिक हुलसाय । कर मोटे मंडणा नगर में लाया मान वधाय । मात मनोर्थ पूर्ण कीन्हा, हृदय हर्ष न माय ॥ १३ ॥ तिण अवसर सुव्रत सूरीश्वर पंचशया अणगार । समोसर्या तस पास भूप पद्मोतर विष्णुकुमार । ले दिक्षा तप कर मुनि विष्णू हुआ लब्धि भंडार ॥ १४ ॥ सुव्रत गणिवर किया चौमासा गजपुर के उद्यान । गुरु आज्ञा ले विष्णू मुनि किया मेरू चूलिका ध्यान । जिन शासन उद्योत करणको, उदित हुआ मुनि भान ॥ १५ ॥

नीच नमुंची पाप यो सरे नृपवर किनो याद । सात दिवस को राज लेलियो तुर्त बुलाया साध ॥ निकलो छोड सात दिन अंदर षट खंड की मर्याद ॥ १६ ॥ गंगा काशी ब्रह्मा विष्णू शंकर दुर्गा दान । तीर्थ हवन ब्रह्म भोजन अरु गोदावरी सिनान । इतना तुम मानो नहीं मूर्खे, इन बिन कौन कल्यान ॥ १७ ॥ मुनि भाखे ब्राह्मन तुम कैसे ब्रह्म पंथ अणजान । हिंसा झूठ अदत्त कुशीला परधन में गलतान । रङणी भक्षक चतुर कपाई पर तख पशू समान ॥ १८ ॥ हो अति कोपित बोला पापी मत रहो षट खंड माय । नहीं तो सप्तम दिन सबही को दूंगा यंत्र पीलाय । चिंतातुर अति होयने स मुनि बाग मांय चल आय ॥ १९ ॥ सोचन लगा उपाय कहो अब कैसे सुधरे काज । विष्णू मुनि होता तो रखता आप सहुन की लाज । एक शिष्य कहे फक्त मुझे जावण शक्ती महाराज ॥ २० ॥ जा तूं पीछो विष्णु ले आसी तुरत गयो तस पास । आदि अंत जो हुई हकीकत सबही करी प्रकाश । आगुरु पास रजा ले पहुंच्यो, चक्री के आवास ॥ २१ ॥ भ्रष्टमती चक्री किहांपरे सुन कंपितहो आयो । नीच हाथदे राज आज थे क्यों कुल दाग लगायो ॥ चक्री कहे महाराज वचन में आके इसे छलायो ॥ २२ ॥ सात दिवस के बाद दुष्ट से कर लूंगा दिल जाणी । किसको होवे सात दिवस यह प्रथम पिलावे घाणी । विष्णू मुनि सभा में आया नमूची बोला वाणी ॥ २३ ॥ सुन विष्णू तुझको मैं दीनी

भूँ पट्ट साढातीन ॥ सप्तम दिन मध्यान प्रथम तुमही को धरूं मशीन । पीछे सबको तेल निकालूं करज्ये सत्य यकीन ॥ २४ ॥ इम सुन मुनिवर कोपियो सरे पहुंचगयो तुझ काल । संतन को मारण लग्यो स तूं ब्राह्मण नहीं चंडाल । अब जीन्दो नहीं छोडूं पापी ले तुझ इष्ट संभाल ॥ २५ ॥ लब्धि फोडके रूप कियो मुनि लख जोजन परमान । एक पांव लघु हेम गिरीपै दूजो जगती जाण । भरत निवासी सब मानवगण देख हुआ हैरान ॥ २६ ॥ रे अनिष्ट तूं दुष्ट बता अब डेड चरण अवकास । धरत पांव मस्तक पै मरियो सप्तम् नर्क निवास ॥ नभचर देव शोर कर भागा तीन लोक हुए त्राश ॥ २७ ॥ अंतेउर युत चक्र वरत आ धन्यो चरण बिच शीश । चद्रसूर सुरशक्र आय कहे क्षम्या करो योगीश । मूलरूपसे होय मुनी दी धीरज विश्वावीस ॥ २८ ॥ कर आलोचन प्रायश्चित ले मुनि धायो निर्मल ध्यान । घन घातिक चउ कर्म काटके, पाया केवलज्ञान । वरस सहस्त्र पट केवल पद रह हुआ सिद्ध भगवान ॥ २९ ॥ जिन शासन की लज्जा राखी जिन दिन से हुइ राखी । निर्णय करना होतो देखो, ग्रंथ दिगम्बर साखी । कम ज्यादा मिथ्या दुक्कडं देखी जैसी दाखी ॥ ३० ॥ परवल पुण्य उदय मिलिया गुरू पूज्य एकलिंगदास । चोथमल कहे साल इक्यासी, पूनम श्रावनमास । मांडलगढ की सभा देख हुआ पूर्ण हर्ष हुलास ॥ ३१ ॥ इतिश्री राखी पर्वोत्पत्ति ।

विष्णू कुमार चरित्र सम्पूर्णम् ॥

नंबर ५ मातृ व पितृ भक्ति पर

श्रवण कुमार चरित्र

तर्ज पूर्ववत्

पुत्तर पुण्यवंता. अम्मा पितु का जो हो सुविनीतरे ॥टेर॥ दशरथ राजा राज करत था, नगर अयोध्या स्थान। तस भगिनी पट गुण की धारक ज्ञानवती अभिधान ॥१॥ शान्तवन नामा ब्रह्मर्षि को दीनी कन्यादान। नादार्थ पति के घर पत्नी हुई कर्म फल जान ॥ २ ॥ भिक्षावृत्ति करके करता दुखसे दोई गुजरान। पुत्र हुआ एक तेहने सरे सरवण नाम निधान ॥ ३ ॥ लाड प्यार से बारा वर्ष में आया श्रवणकुमार। कुछ २ विद्या सीख कुवर ने, जाना जग व्यवहार ॥ ४ ॥ निस्वार्थ मुझ मात पिताजी करी आज तक सार। मुझ सिरपे करजा बहु बढगये, ऐसा हुआ विचार ॥ ५ ॥ अब मैं कर तन मन से भक्ती दूं सब कर्ज उतार। माय बाप की टहल में सरे लागा श्रवण कुमार ॥६॥ सूर्योदय नित चरण नमनकर पूछत कुशल शरीर। स्नान करावे आप हाथ से ले सुखकारी नीर ॥ ७ ॥ जन २ पे हो दीन ले आता दूध और तंदूल। रबडी कर धरता मुख आगे यही हमेशां रूल ॥ ८ ॥ रूक्ष लुक्ष अन खाकर करता सदा आप संतोष। नहीं मिलता तो सहन करी रहता आनान्द पोष ॥ ९ ॥ अशुभ कर्म वश मात पिता फिर हुआ दोउ दग हीन। किंचित कसर कभी नहीं करता सेवा

नित्य नवीन ॥ १० ॥ बारा वर्ष गया इन भांती सरवण सोची एम । व्याकुल होवे माय बाप, नहीं मिले भुक्त सर टेम ॥ ११ ॥ कुलवंती कन्या मिले स तो करूं व्याव तिण साथ । दोनों मिलके करां चाकरी मिटे देर व्याघात ॥१२॥ एक ब्रह्म पुत्री को परणी घरमें लाया आप । भोग लालसा काज नहीं वो फक्त भक्ति मां बाप ॥ १३ ॥ कुछ दिन बाद पलट गई नारी, हा मुझ करी निराश । माय बाप का दास होगया करूं वृद्ध का नाश ॥ १४ ॥ खीर रावडी दोई बणाइ दोपड हांडी माय । आप दंपती खीर खाय यह भेद श्रवण नहीं पाय ॥ १५ ॥ वृद्ध आगे धरी रावडी स, खाता खटकायो शीश ॥ अहो पुत्र यह छाछ कसेली पडे कलेजे चीश ॥ १६ ॥ भेद जाण सरवण दुखपायो, छूटी आंसु धार । माय बाप को मारण कारण रचा कर्म कुनार ॥१७॥ जो मावित घर रहे तो दुष्टण लसी को दिन मार । या कारण ले निकलूं इनको कावड करी तयार ॥ १८ ॥ धर मावित की कावड खंधे, सरवण चला विदेश । उसी रीति से करत चाकरी कसर नहीं लवलेश ॥ १९ ॥ गाम २ फिरता इम दीना बारा वर्ष गुजार । काशी के नजदीक आवियो ग्रीष्म ऋतु करार ॥ २० ॥ तिण अवसर मावित घबराये प्राण जाय विन नीर । पण पाणी तिण ठोर नहीं अध जोजन सरजू तीर ॥ २१ ॥ कावड वडकी डाल बांध झारी ले चला सिताप । सरिता तट पे आय नीर शुद्ध भरन लगा आप ॥ २२ ॥ तिण अवसर दशरथजी

आये सलिला देखन काज। कुछ दूरी पर सुना राजवी झारी तणा अवाज ॥ २३ ॥ नाग लता आडी छा रही नहीं दीखे किस्यो विचार ॥ २४ ॥ निबल पशूको सबल दबाया कर रह्या दीन पुकार ॥ २४ ॥ करुणां दरवित होय राजवी फेंका जोर से बाण। लता भेदके तीर लगा सरवण छाती में आण ॥ २५ ॥ झारी छूट फूट गई सरवण पडा धर्णि धसकाय। हाय प्राण मेरा छूटे मम, दुखी बाप अरु माय ॥ २६ ॥ पूर्ण करज उतार सका नहीं या मुझ सिर तकसीर। अंधा मावित तडफत होसी कौन पिलासी नीर ॥ २७ ॥ दशरथ नरपति पास आय पूछे कुण वत्स क्या नाम। कौन कष्ट से कष्टित् होगया फूट गया तुव ठाम ॥ २८ ॥ है मामाजी मैं हुं सरवण ज्ञानवती का लाल। नयन हीन मा बाप कवड में लटकत वड की डाल ॥२९॥ दुख मतिकर मामाजी मेरा प्यासवंत मा बाप। उदक इहां से शीघ्र लेजाके पाय मेट दो ताप ॥ ३० ॥ प्राण छोड पर-लोक सिधाया सरवण सरजू तीर। दशरथजी मुर्छित हो पडिया रोवत त्रास शरीर ॥ ३१ ॥ हा! मैं निष्टूर दुष्ट अधर्मी कीन्हा कृत चंडाल। सरवण जैसा भाणेजाको मारा आज अकाल ॥ ३२ ॥ झारी के दोनों टुकडों में भरके चलिया तोय। माय बाप कावड पल्लोंमें रह्या दुख्यारा रोय ॥ ३३ ॥ मय पानी झारी के टुकडे दिये हाथ में आय। आज लाल देरी से आये फिर क्यों गये रिसाय ॥ ३४ ॥ अलवत तूं ललकार करत आता था हमारे पास।

विन बोले पानी न पियें किस कारण हुये उदास ॥३५॥ पुत्र नहीं मैं दशरथ राजा करो आप जलपान । तुम कहां से आये ' मम कुलवर ' गया कहो किस स्थान ॥ ३६ ॥ सरवण भरता नीर इते मैं आया वहां पर चाल। अन जाने दिया बाण फेंक लागतही कर गया काल ॥ ३७ ॥ छटक पडे कावड से दोनों, हुआ अधिक बेहोश । हा ! दशरथ हत्यारा हमारा लिया कलेजा खोश ॥ ३८ ॥ अए कुल कमल गया तूं कहां पै छोड दुखी वन बीच । ये वन सघन भरा वनचर से सिंह सर्प गज रीछ ॥ ३९ ॥ कौन हमें खंधे पै लेके खीर खिलासी आन । पुत्र विना किरिया कुण करसी आये अंत अवसान ॥ ४० ॥ मरण वक्त में शक्त विछोवा दीना दशरथ आप । अंत समय तेरे पण ऐसा होगा दिया सराप ॥ ४१ ॥ ऐसी देके दुराशीश दोनों तज दिये पिरान । दशरथ का जो हाल हुआ था, जानत सकल जहान ॥ ४२ ॥ हुआ न होसी सरवण जैसा पुत्र महा पुन्यवान । मावित भक्त स्वर्ग में पहुंचे जैनागम परमान ॥ ४३ ॥ पूज्य एकलिंगदास गुरुका शिष्य चौथमल जान ॥ साल इक्यासी नंदराय में किया बीस व्याख्यान ॥ ४४ ॥

इति श्री श्रवण कुमार चरित्र संपूर्णम्.

नम्बर ६

पूज्य श्री धर्म्मदासजी महाराज का जीवनादर्श

तर्ज पूर्ववत् ।

पूज्य धर्म्मदासजी, धर्म दीपायो वीर जिनेन्द्र को ॥ टेर ॥ सौरठ भूः सर केत ' गांव में, था परसिद्ध पटेल । भावसार जाती जीवनजी, वंश निशंश अमेल ॥ पू. ॥ १ ॥ तस गृहिणी सद् भाग्यवती वर जीवाबाई नाम । धन धानादिक पुष्कल घरमें सर्व भांति आराम ॥ २ ॥ प्रेम परस्पर अतिशय सुन्दर सूती सयनागार । सुपने में देखा सतवंती, इन्द्र भुवन आकार ॥ ३ ॥ हर्ष प्रमोद सहित सति पतिको दरसाया अहलान । धर्म्म वृक्ष सिंचन को आया यह प्राणी पुन्यवान ॥ ४ ॥ सतरह सौपर साल तीन में अश्वीन शुक्ल विशिट ॥ एकादशी अरुणोदय वेलां जन्म लिया शुभ इष्ट ॥ ५ ॥ दृढ सहनन शुभ लक्षण अंगपर, ज्योतिषी योग मिलाया । धर्म वेल अधपतन समझकर शिकर चढावन आया ॥ ६ ॥ अष्ट वर्ष में विद्या व्यवहारी पढके हुवे प्रवीन । चउदे वर्ष सुवय में जागी आतम तत्व मशीन ॥७॥ पूज्य शिरोमणि कहानऋषिजी, पास सिद्धांत अभ्यास । विनय भाव से किया हियामें हुआ ज्ञान परकास ॥ ८ ॥ निरयावली सूत्र तृतीया वर्ग तास दूसरा ध्येन । सुनत हुआ संवेग समुत्पन्न, धन्य जिनेश्वर वैन ॥ ९ ॥

पूज्य चरण में अरज करी मैं दीक्षा लेऊँ दयाल। सतरह कलम आप धारें तो सेवक होवे निहाल ॥ १० ॥ ज्ञान जीवके साथे उगते अंकुर जीव अनंते ॥ पत कूटों कच्ची ककडी रसचलितै तिहुं वरजंत ॥ १. ॥ जीमणवार में जाना नहीं नहीं लेना अहार पट खोल । विन कारण दोइ समय एक घर जाना नहीं वसु बोल ॥ १२ ॥ दो जन तोक पाट लानां, मुनिको अमुनी नहीं कहनां । दो हाथों में झोझी न लेनां, सूते द्वार नहीं देनां ॥ १३ ॥ गृहस्थाश्रम का त्याग साधुपन में नहीं करना भंगँ ॥ अशनपान सामिल करले फिर वन्दन में न दुरंगँ ॥ १४ ॥ श्रावण में नहीं करें पजूसनँ, अनुवृत में नहीं मोखँ । गौचरी की विधि न्याय शास्त्रके, सर्व टालिये दोख ॥ १५ ॥ एवं सतरह बोल पूज्यवर, कीना नहीं कबूल । तब स्वय मेव छ मित्र साथली, दिक्षा नक्षत्र मूल ॥ १६ ॥ संवत सतरह सो सोलह तिथि मास जनम का जान । तज संसार वीरवर निकले, खुद शास्तर विद्वान ॥ १७ ॥ प्रथम गौचरी गये आप तब, श्रावक राख वहराई । रेणूं पसर गये मुनि सोची सम्प्रदाय गहराई ॥ १८ ॥ पंच सती को एक साथ दी दिक्षा सूरत सँहरं ॥ शिष्य नंनाणव हुआ आपके यश फैल्यो चौफेर ॥ १९ ॥ वसन्त पंचम शुभ दिन संवत सतरह सो इकीश । उज्जैणी के सकल संघ मिल, दीना द सूरीश ॥ २० ॥ करी विजय श्री जिनशासन की निडर

साहसिक शूर । पाखंडी उल्लु छिप रहते, या करते मंजूर ॥ २१ ॥ सत्शास्त्रामृत वृष्टि कीन्ही, कर कर उग्र विहार । हज्जारों को आप निकाले अंध कूप से बहार ॥ २२ ॥ धारा नगर में एक आपके शिष्य किया संथारा । कुछ दिन बाद् चलित हो बोला मैं पूर्ण दुखियारा ॥ २३ ॥ अन खावन को मांगा तब तस सहायक संत विचारे। भंग किये से होय हीलना पिन वो एक न धारे ॥ २४ ॥ युग प्रधान उज्जैन विराजे खबर सुनत किया विहार । भेरू बावडी पे चल आये आठ कोस रही धार ॥ २५ ॥ मारवाड के पंच सरावक जाते दक्षिण देश । भोजन करन वाव्य पर ठहरे पूज्य हुआ परवेश ॥ २६ ॥ करके न नम निमंत्रण कर बह-राई बाटा दार । गर्म अहार विन पानी भोगव उसी दिवस गये धार ॥ २७ ॥ समझाया साधू को बहुविध समझा नहीं लगार । तब खुद् अनशन करके राखी जिन शासन कार ॥ ॥ २८ ॥ धन्य आपकी अतुल वीरता सुनत द्रवित हुवे रोम। इष्ट कांत कंचन वत् तन को पर प्रण में दिया होम ॥२९॥ संथारा नौ दिवस चला पुज्य विकट वेदना भोग । साल अठावन फागण सुद एकम साधे सुरलोग ॥ ३० ॥ अंत वख्त में पुज्य कह गये अनशन चतुर्विहार । पूर्ण सोच समझ के करना समय काल सुविचार ॥ ३१ ॥ छप्पन वर्ष सर्व आयुष्य श्री वीर अष्टमें पाट । एक भवांतर मुक्त होवसी सिद्ध पाहुडे पाठ ॥ ३२ ॥ गजदंता गिरी चार करी रिम सोभित मध नागेन्द । त्यों तुम नाम सुभावन

राजत चार गणिन्द ॥ ३३ ॥ एकलिंगदास मेवाड मालवा माधवमुनि विख्यात । मरुधर में सोभाचन्द विचरे एक गणी गुजरात ॥ ३४ ॥ वर्द्धमान के शासन ऊपर सदा भाव वर्द्धमान ॥ फिर्के रह्या चौतर्फ आपके नाम तणा निशान ॥ ३५ ॥ घोर तपस्वीराज मुनीश्वर केसरीमह्ल कृपाल । तत्मुख कथन श्रवण किंचित, दर्शित कीरच ढाल ॥ ३६ ॥ पूज्य एकलिंगदास गुरुका है पूर्ण उपकार । चौथमल किंचित गुणगावे शाजापुर गुलजार ॥ ३७ ॥

इति श्रीमद् धर्मदासजी महाराज का संक्षिप्त जीवन चरित्र

सम्पूर्णम्.

नंबर ७ (ममत्व दिग्दर्शन.)

गुणकर चरित्र।

तर्ज—सीता है सतवंती नार सदा गुण०

ममता मोटी दुख की खान ध्यान में लावनारे। सुख संचारण धारण करिये मध्यस्थ भावनारे ॥ टेर ॥ जग में कोई आय कोई जाय, जिस का रंज अपन को नांय, जिस पर मेरा पन प्रकटाय, उनका पडत विछोवा कैसा दुख हो जावनारे ॥ म.॥ १ ॥ नगर एक माणकपुर मंझार, रहता गुणकर शाहूकार; तिण घर नन्दा देवी नार, तिनके पुत्र सु मोहन सुन्दर रूप सुहावनारे ॥ म० ॥ २ ॥ कर्म ने दिया झकोला आय, घरका द्रव्य गया विरलाय. पड-गया घोर मुसीवत माय, नहीं घर आठ दिवस का धान भान विलखावनारे ॥ म० ॥ ३ ॥ पुर में कोई न देत उधारा. तब तो मन में सेठ विचारा, यहां पर होता नहीं गुजारा, जाके देशान्तर से द्रव्य कमा कर लावनारे ॥ म. ॥ ४ ॥ त्रिया और तीन मास का लाल, घर पर छोड चला तत्काल. दूंगा भेज कमा कर माल, इनने ज्यों त्यों कर के अपना काम चलावनारे ॥ म. ॥ ५ ॥ जहाज गत गया समुद्र पार, देखी नगरी सुन्दराकार. किसी एक क्रोडपति के द्वार, लगियो करण मुनीमी पीछा दिन पलटावनारे ॥ म. ॥ ६ ॥ सच्ची नियत सभारे काम, दिन

दिन बढी सेठ की मास, काम बहालो बहालो नहीं चाम,
श्रीधर खुस होके, प्रति दिवस पगार बढावनारे ॥ म. ॥ ७ ॥
कुछ दिन करी नोकरी सेठ, जमगई पूरी शहर में पेठ,
छोडी पराधीनता वेठ, खुद की करली आप दूकान सु-
भाग खुलावनारे ॥ म. ॥ ८ ॥ जोडी बहुत द्रव्य की रास,
निज घर भेज मेट दी त्रास, बरत्या पीछा सुख विलास,
चबदे वर्ष बाद प्रिय पत्नी पत्र पठावनारे ॥ म. ॥ ९ ॥
अब प्राणेश्वर वेग पधारो, बालक मोटो हुवो तुम्हारो,
सगपण करके घंशवधारो, तुम बिन सब फीका पकवान
दर्श दिरावनारे ॥ म. ॥ १० ॥ पडके पत्र सेठ उसवार,
उमग्यो हिरदे प्रेम अपार, पण लोगों में फसी उधार, हूं
लाचार पत्र यों पीछा, लिख पहोंचावनारे ॥ म. ॥ ११ ॥
सुत का सगपण तुम कर लीजो, सुंदर युवति पे चित्त दीजो,
कुछभी सोच फिकर मत कीजो, वर्ष दो बाद होवेगा प्यारी
मेरा आवनारे ॥ म० ॥१२॥ कीना सगपण योग विचारी,
लागी उमंग व्याव की भारी, फिर २ दिया पत्र बहुप्यारी,
भर वाहण में धन हर्षित हो सेठ सिधावनारे ॥ म० ॥१३॥
सागर उतरण की तारीख, जाणी लगी कुँवर को पीक,
चलिया ले जननी की सीख, बन्दर आया अशुभोदय तस
रोग सतावनारे ॥ म० ॥ १४ ॥ हो गई तनमें सूल विनारी,
खाय पछाटां रोवत भारी; जुडिया बहुत आय नर नारी,
उपनी दया सबों को तुर्त हकीम बुलावनारे ॥ म० ॥ १५
.. करने लगे इलाज, इतने आई सेठ की जहाज,

उतरचा रत्नागरकी पाज, उत्तम बंगला देखा उस में वास बसावनारे ॥ म० ॥ १६ ॥ रस वती हो रही इधर तैयारी, लागी सोदख सेठने भारी; नृतिक जन बुलाय उसवारी, घुटने लागा रंग विनोद लुब्ध होजावनारे ॥ म० ॥ १७ ॥ लडका रहा उधर चिल्लाई, जिनकी कुछ भी परवा नाही, होगा कोई मुसाफिर भाई, अपने राग तानमें भंग पटकावनारे ॥ म० ॥ १८ ॥ धन बिन वेद करे न इलाज, चन्दा करते फिरत समाज, कुछ २ मिला सबी से साज, आके सेठ तही कहे तुमची कुछ बखसावनारे ॥ म० ॥ १९ ॥ बोला सेठ खडे क्यों आई, यहां पे नहीं मिलेगी पाई; मरते बहुत जगत के मांइ, क्या हम धन है उन के काज बचन यों बावनारे, ॥ म० ॥ २० ॥ अरे ये क्या है बिलोबिलाट, पडरही राग तान में घाट, यहां से शिघ्र उठावो खाट, पट को दूर इकन्त यों सेठ हुकम फरमावनारे ॥ म. ॥ २१ ॥ आखीर बडी बमारी श्वासः 'मोहन' किया पुनर्भव वासः पुलिस आके करी तपास. अङ्ग रक्षिका के खिसे में कागज पावनार ॥ म ॥ २२ ॥ लिखिया गुणकर सुतको एमाः सागर उतरन काज संदेशा, है यहां गुणकर महाजन कैसाः बोला सेठ गोख में बेठा कौन बुलावनारे ॥ म. ॥ २३ ॥ नाटक बाजा बन्ध करावोः गुणकर हो तो नीचे आवोः कागज लिखका देखी जावोः देखत पत्र सेठ होश कोश उड जावनारे ॥ म. ॥ २४ ॥ आयो तुने सु 'मोहन' पासः देखी

निज नन्दन की लाश; लागो वज्र घात चरीस; मुर्छित होय ढल्यो धरणी पर मुख कुपलावनारे ॥ २५ ॥ चेत हो रोवण लग्यो अपार; मेरा फूटा भाग इन वार; मैं तो गया जनम सब हार, दो महिनेका बालक छोड विदेश सिधावनारे ॥ म. ॥ २६ ॥ सोला वर्ष बिताकर आया; सुत का ब्याह करण उमाया; सो मुझ मृत्यु रूप दिखाया; तडफत वेलां नहीं ली सार बडा पछतावनारे ॥ म. ॥ २७ ॥ आये परमारथी भी चाल; उनको नहीं दी दमडी निकाल; है मुझ कुलवर ! हे मुझ लाल ! तुझ जननी आगे किस भांत वचन संभलावनारे ॥ म. ॥ २८ ॥ कर बहु रुदन दहन कर काया; शाहजी चलकर निज घर आया; सुतका मरण हाल दरसाया, धमकी मरगई माता पुत्र विरह अलखावनारे ॥ म० ॥ २९ ॥ 'गुणकर' पूरण हुआ उदास; छेदी दुखी जगत की फास, पहोंच्यो ज्ञानी गुरुके पास, ले योगारंभ समता धार पार जग पावनारे ॥ म. ॥ ३० ॥ ऐसा मोह कर्म का ख्याल; छिन में करे हाल बेहाल; सुखीया वही तजी मोह जाल, सच्चा गुरु जन का उपदेश हिये प्रगटावनारे ॥ म. ॥ ३१ ॥ मोटा पूज्य एकलिंगदास, जिनका शिष्य 'चौथमल' खास, रखता दिल दर्शन की आस, कीना चतुर्मास संजीत सु यश बरतावनारे ॥म.॥३२॥

इति श्री गुणकर चरित्र सम्पूर्णम्

नम्बर ८ मोहलीला

आषाढ मुनि चरित्र

तर्ज द्रोणमें

या प्रबल प्रेम की फास अमर नर बंधिया । महाराज मुनिजन पण फंस जावेजी । मिले अनुपम सुख की सहर मोहिणी दूर हटावेजी ॥ टेर ॥ था राजगृह नृप श्रेणिक समकितधारी । म्हराज । चेलणा तस पटरानीजी । चेटक पुत्री सति शीलवती श्री वीर वखाणीजी ॥ महिमण्डल विचरत धर्मचन्द्र मुनि आये । म्हा । गये वंदन भवि प्राणीजी । जग अधम उधारण काज जहाज सम कही जिनवाणीजी ॥ ले यथा शक्ती शुभ लाभ गये निज घरको ॥ म्हा० ॥ नियम पाले शुद्ध भावजी ॥ मिले ॥ १ ॥ मुनिगण में मुनि अषाढ लब्धिके धारी । म्हा० । रूप यौवन झलकावेजी । छट पारण कारण चरण लाभ नट के घर आवेजी ॥ कन्या जय सुन्दर भवन सुन्दरी दोनों । म्हा० । चरण में शीश नमावेजी । अतिहर्ष भाव से एक मिष्ट मोदक वहरावेजी ॥ मुनि लड्डू देख चिन्ते यो गुरुवर लेसी ॥ म्हाराज ॥ हाथ मेरे नहीं आवेजी ॥ मिले ॥ २ ॥ तब उतर भवन से कृष्ण रूप बन चायो । म्हा. । एक लड्डू फिर लिन्हाजी । यह विद्या गुरु का ज्ञान रूप बुड्ढे का कीन्हाजी ॥ डग मग चलता तन सुष्क हाथ में डंडा । म्हा० । देख दोई आदर दीनाजी । दिया मोदक करत विचार लेयगा शिष्य नवीनाजी ॥ तब

बनकर बालक संत लेय लघु पातर । म्हा. । गती चंचल चल आवेजी ॥ मिले ॥ ३ ॥ लघुवर मुनि देखत खुशी हुई दोई बाला । महा. । वोही खादिम फिर लाइजी । वहराये बाद मुनीराज फेर सोची मनमाईजी ॥ यो लेगा तपसीराज ज्येष्ट गुरु भाई । महा. । रूप खोडे का करियाजी । करि एक आंखको लुप्त गुप्त देखी नट चरियाजी। झट आय हकीकत कही पुत्रियां आगे । महा. । तुर्त श्रंगार सजावेजी ॥ ४ ॥ मुनि आये वहरण काज पंचमी त्रिरिया । महा । वालिका कहे सुन स्वामीजी ॥इस तरुण अवस्था मांय वृथा विपता क्यों पामीजी ॥ हो भोग योग उद्योग कठिण का धारा । महा. । जोग लेवे दुखियाराजी । हम कंचन वरणी युगल नार हुओ नाथ हमाराजी ॥ ये सुवर्ण मंडित भुवन मौज करने को । महा. । चरित कर चित ललचावेजी ॥ ५ ॥ ज्यों घृत कुंभ पावक पासे पिघलता । महा. । मुनि दिल ढिस मिस करियाजी । प्रत्यक्ष दुखों की खान योगारंभ क्यों आदरियाजी ॥ मैं शीघ्र गति गुरु पास जाय अभि आस्यूं । म्हा. । अहार ले बागमें आयाजी। गुरु पूछे देरी वहोत हुई कहांपर विलमायाजी ॥ तब ओघा पात्र दिया पटक संभालो स्वामी । महा० । मुझे यह दाय न आवेजी ॥ ६ ॥ इहां बात २ में उपालंभ कुण खावे । महा. । जोग मुझसे नहीं पलताजी । हम से संकट नहीं सुहन होय पीछा घर चलताजी ॥ तब गुरु देव विश्वास . में लीन्हा । महा. । तुर्त उछल के पडियोजी ॥ कोई

आंटस पड़गई आज कोप तुझको किम चढियोजी । दिल चाहे करो मैं हिरगिज़ नहीं रहने का । म्हा. । गुरु हितकर समझावेजी ॥ ७ ॥ तूं जावेगा किस ठोड कौन भरमायो । महा. । ठोड नट घर कर आयोजी । अरे चेला जग जंजाल छोड उत्तम पद पायोजी ॥ वैराग पाय पटकाय समारंभ छोडा । महा. । लगा तुमको फिर प्याराजी । है भोग जहर किंपाक होय भव २ दुखियाराजी ॥ यह मनुप जनम हर वक्त नहीं मिलने का । महा. । समझ तूं जो सुख चाहावेजी ॥ ८ ॥ जो करो कोड उपाय रहुंगा नाहीं । महा । उठ चलिया मतवालाजी । जां जाने लगा तो एक कहन क जे मुझ लालाजी ॥ जिन वचन समझ सत समकित मूल रखिजे । महा. । मंम मद मत आचरनाजी । वा सीख हिया में धार लिया नट घर का शरनाजी ॥ मद मंस तगा आचार रखो मत घरमें ॥ महा. ॥ कहनकर प्रीती वधावेजी ॥ ९ ॥ तन मंझन उबटन कर श्रंगार सजाया । महा. । प्रेमवंती दोई नारीजी । मन मोहिनी चंपक वेल मदन दीपावन हारीजी ॥ सुख शब्द रूप रस-गंध फर्स पाचों में । महा. । गरक होगये नहीं सूजेजी । ये लब्धिवंत का हाल देख क्यों नहीं पग धूजेजी ॥ समकित में साबित रहे लब्धि नहीं खोई । महा. । दीवस सम वर्ष बितावेजी ॥ १० ॥ किया द्वादश वरस व्यतीत भोग कर्मो में । महा. । विदेशी नट चल आयाजी ॥ खुद राज भवन में आय ख्याल अदभूत दिखायाजी ॥ है कौन इमा नाटक

का करने वाला । महा. । नरपति इसे बुलावेजी । इनसे बढकर बतलाव नहीं तो घर लुट जावेजी ॥ दर आय वीर रसधार नार दोनों की । महा. । सीखले तुर्त सिधावेजी ॥ ११ ॥ विद्या पर जूंजी पुरुष अनेक बनाया । महा. । रूप नल कुवर समाणाजी । नृप श्रेणक सर चौगान बीच वर बरत बंधाणाजी ॥ पुरवासी पवन छतीस देखने आये । महा. ॥ चरित केई भांत बतायाजी । फिर लब्धि फौड दशलाख फौज नगरी पर लायाजी ॥ तब देख भयाकुल हुआ सकल नर नारी । महा. । भूप श्रेणक घबरावेजी ॥१२॥ एक सुन्दर ललना शशी मुखि रूप रसाला ।महा.। लब्धि जोगे बनवाईजी । लाखों मनुषों के बीच भूप के हाथ भलाईजी ॥ मैं जाय फौजका खोज खोय अभि आऊं । महा. । कामणी आप भरोसेजी ॥ उड गयो गगन में काट २ धरणी पर धोसेजी ॥ फिर निज अवयव ज्यों रूप वैक्रेर करके । महा. । सभा बिच में छटकावेजी ॥ १३ ॥ नट का शिर देखी उडगये होस सभीका । महा. । मच्यो कोलाहल भारीजी। सुन हाल महल में छटक पडी वो कर-तवी नारीजी ॥ पुरपत पुरजन समझाई नारी नहीं समझी । महा. । काष्ट की चिता बणाईजी । ले प्रियतम को सिर लार नार जलगई तिण मांइजी । ऊपर से नट निज भवन आविया सिधा । महा. । मती फिर शुभ दिन आवेजी ॥ १४ ॥ तिण अवसर दोनों नार रही निज घर पे ।महा.। मूलाकर खायाजी । पी चन्द्र हास मद मस्त होय बक

रही वैमायाजी ॥ ये देख हाल ततकाल हुआ दुख भारी । महा. । दुष्टणी दोनों नारीजी । मर्याद भंगकरी आज लाज नहीं रक्खी लिगाराजी ॥ छटकाय चला जाते का पकडा पल्ला । महा. । नाथ पीछा किम जावेजी ॥ १५ ॥ अपराध माफ कर नाथ दया दिल धरके । महा. । त्रिया माति हीन कहाईजी । दो दासि ताहि विश्वास झूमगई कंठ सहाईजी ॥ पग थकी ठेल निराश करी निकालियो । महा. । राय पासे चल आयाजी । मुझ नारि रूप सुन भूप एकदम से वधारायाजी ॥ कहे जलगई तब अंतेउर मांहि दिखाई । महा. । देख नर वर सरमावेजी ॥ १६ ॥ भोनत कह एक नाटक तो फेर दिखादे ।म्हा.। बना भरतेश्वर राजाजी । करी कंचन की महलात खंड बैयालिस ताजाजी ॥ हय गय रथ पायक अंतेउर सब करके । महा. । तब श्रृंगार सजायाजी । फिर काच महलमें आय लगा निरखन निज-कायाजी ॥ भाई अनित्य भावना घातिक कर्म खपाया ॥ म्हा०ज्ञान केवल प्रगटावेजी ॥१७॥ तत्काल देवता आय करी जिन महिमा । महा.। लोक सब अचरज पायाजी ॥ मुनि कर करमोंका नाश वास मुक्तिका पायाजी । पूज्य एकलिंगदासजी महाराज आठ ठाणासे ।महा.। लाखोला आये विचरताजी । तहां श्रावक जन पुन्यवान भावसे भक्ती करताजी । ये चैत्र मास शुद चउदश साल गुण्यासी ।महा.। चौथमल मुनि गुण गावेजी ॥ मिले अनुपम सुखकी सहल मोहिणी दूर हटावेजी ॥ १८ ॥ इति श्री आषाढ मुनि चरित्र संपूर्णम् ।

नंबर ९ दृढ प्रतिज्ञा

(मुनिपति अच्चंकारी भट्टा की लावणी)

(पंचरंगिनी)तर्ज लंगडी ।

पुद्गल प्रीति उतार मुनिपद धारलिया शिव साधन काज । परम वैरागी, घर के किया काज सुफल मुनिपति मुनिराज ॥ टेर ॥ स्वर्ग लोक सम तुल्य सुव्रता नगरी मुनि पति तहां भूपाल । प्रथ्वीराणी, शियल वंती शाचि सादृश रुपरसाल ॥ पुत्र मणि चन्द्रराज धुरंधर श्रेष्ट सुलक्षण अति सुखमाल । रानी रायके, लखा एक श्वेत वर्णका बाल कपाल ॥ शेर ॥ दूत आव्यो नाथजी दरसायो अन्तर भेदजी । भूप कंपित होय तत्क्षण करन लागो खेदजी ॥ पुद्गलाशक प्राणीया भोगे भवान्तर केदजी । रंग चढा संवेग का लगी योगकी उम्मेदजी ॥ छोटी ॥ तिण अवसर आये धर्म घोष रुपि - राया । चतुरंग सेना ले भूप वंदवा आया । मुनि दश दृष्टांतिक धर्म भेद समझाया । दानादिक शुभकरणी का फल बतलाया ॥ द्रोण ॥ मुन ज्ञान भान खुल गये तुर्त नरपतका । महा । राज पुत्तर को दीन्हाजी । दे दान महत मंडान आप योगारंभ लीन्हाजी । कर ज्ञानाभ्यास फिर होगये एकल विहारी । महा० । शीतऋतु पोष का महिनाजी । उज्जणी, बहार बनमाय रइणी काउस्सग कीनाजी ॥ दोड ॥ हुआ समय सायंकाल, आया बालके गोवाल, शीत पडे असराल, मुनि जामी ॥ एक बिस्तर विशाल, मुनि खंभ उपर डाल,

घर गया गउपाल. ठंडी उडजासी ॥ मिलत ॥ उसी नगर में तिल भट्ट ब्राह्मण तिल संचय पूर्ण मोह ताज । पर ॥ १ ॥ धन श्री नारी दुष्ट स्वभावी पर नर से करती व्यभिचार । सब तिल घरका. उडाके सोचा पूछेगा भरतार । पाखों से तन ढांक कृष्ण मुख लाल नेत्र बिच श्वेत अकार । सिर पर सगडी । हाथ एक खप्पर दूसर कर तलवार ॥ शेर ॥ पद घुघर घमकावती मद्य रात चाली झट्टजी । खेत पे आवी जहां सूतो पति तिलभट्टजी ॥ तिल खाऊं तिल भट खाऊं सुन विप्रजागो पट्टजी । थरथर लागो धूजवा कंकाली देख निकट्टजी ॥ छोटी ॥ मैं तिल भक्षा सुरि मूंप तेरा तिलसारा । नहीं तो खंजर से काटूं कंठ तुम्हारा ॥ मंजूर हुवो फिर देवी वचन उचारा । जो नाम लिया घर जाय प्राण नहीं धारा ॥ द्रोण ॥ यों कह गई तिल भट भयभित हो घर आयो । महा० । प्राण छूटा पल माहींजी । मिल यार नार उध्यान मांय ले आया उठाईजी । वहां मुनिपतजी मुनिराज खडा नहीं देखा ॥ महा० ॥ पासही दिया जलाई जी । वायुके योगसे आग उडी लगी पट के जाईजी ॥दोड॥ जला मुनि का शरीर । रह्या अडिग मेरू धीर । सुभे आयाते अहीर, देखी घबरायाा ॥ हाहा किया दुष्ट काम । कुंचिक शेठ केजा धाम । करके दीनता तमाम । हाल दरसाया ॥ मिलत ॥ कुंचिक आके अरज करी हम घर चलिये करूं यथा इलाज ॥ परम ॥ २ ॥ ले आया निज उपासरे में आये सैंकडों श्रावक बाल । एक वैद्य वहां खडा था बोला मुनिका देख

विहाल ॥ लक्षपाक हो तेल विलेपन जलन शांत होव एक ताल ॥ आपस मांही, पूछतां एक पुरुष बोला तत्काल ॥ शेर ॥ अच्चंकारी नाम भट्टा राज मंत्री घर त्रिया । तेल मिलसी उस जगह तव दोय साधू वहां गया ॥ देख मुनि को हर्ष चित हो भावयुत आदर दिया । आगमन का सबब पूछा तब जिकर मुनिवर किया ॥ छोटी ॥ तत्क्षण दासी को चौथे खंड पठाई । तहां धरा चार घट एक ले आव उठाई ॥ उस समय स्वर्ग में इन्द्र प्रसंशा गाई । अच्चंकारी सम क्षमावंती कोई नांई ॥ द्रोण ॥ तब करन परिक्षा एक देवता आया । महा० । सखलि कुंभ उतरतीजी पटकाके फोड दिया रुदन करत आई दृग झरतीजी ॥ दश सहस्र सुवन कीमत का शीशा फूटा ॥ महा० ॥ धैर्य धर क्यों क्रंद करतीजी । जा ले आ दूसरा तोक उठाया फेर अधरथीजी ॥ दोड ॥ वो भी दिया भडिकाई । रोवन लागी वाई वांई । तीजा लेवण के तांई । भेजी धीरता देई । हुआ तीसरा भी नाश । तब तो अच्चंकारी खास । स्वय जायके आवास । आई चौथा लेई ॥ मिलत ॥ हम कारण दासी के हाथ वाई त्रिकुंपा फूटा आज ॥ परम ॥ २ ॥ हम गये दासी की क्या गति करसी यह हमको बहुत अप-सोस । तबते बोली, नाथजी में नहीं करती किंचितरोस ॥ फल क्रिरोध का भोगा इण भव जिस दिन से धारा संतोश । नद मुनि पूछे, हुई यह बात किस तरह धरा खमोश । शेर ॥ इसी नगरी में धनद श्रेष्ठी कमल माला कामनी ।

मात पुत्र पर एक पुत्री अचंकारी नामनी ॥ रूप मेरा देख कहता हूबहू यह दामनी । मात पितु बंधव वर्ग को थी अधिक सोहामनी ॥ छोटी ॥ मुझ पिता किया प्रण चले हुकम में इसके । जो मिले इस नर व्याव करूं संग जिसके । निर आश होय कई गये जची नहीं किसके । मंत्रीश्वर करी कबूल व्याही संग तिसके ॥ द्रोण ॥ मैं दी आज्ञा दो घडी दिवस के रहते । महा० ॥ कचेरी से घर आनाजी । यों बीत गये कुछ काल हाल गये नृप के कानाजी ॥ तब हो कोपित नृप अर्द्धरात तक रोका । महा० ॥ बाद में किया रवानाजी । मैं सोगइ बँध कर द्वार बहार पती बहु पट कानाजी ॥ दोड ॥ मै तो क्रोध में थी लाल । प्रितम दिया यों सवाल । ऐसी जाणता कुचाल । नहीं व्याहता तुझ ॥ सुण नाँ आग लागी घट्ट । तुर्त खोल दिया पट्ट । पीहर पंथ चाली झट्ट । गृही चोरटां मुझे ॥ मिलत ॥ आभूपण उतार पल्लिपति पास लेगये तीरंदाज ॥ परम ॥ ४ ॥ पल्लिपति ने भोग लालसा दिखलाइ में नहीं मानी । मुझ मारी बेंतसे, अधरमी करुणा दिलमें नहीं आनी ॥ तस माता समझावे हे वत्स सति खिजाई दुखदानी । मदनरेहाको, दिया दुख मरगयो मनिरथ दुर्ध्यानी ॥ शेर ॥ सार्थवाही को वेंचदी लोभी मिला बदमासजी । मैं धर्म से नाचली दीनी अतिशय त्रासजी ॥ बबरदेश लेजायके दी बेंच ले धनरासजी । दुष्ट लोक उस देश का कैसा किया मुझ नाशजी ॥ छोटी ॥ उल्टी लटकाके नस कड़ा उकाली । दिनरूतर सिरके ली

मंमई निकाली ॥ रही पांचवर्ष दशवक्त किया सिरखाली ।
फिर एक दिवस मुझ बंधव आयो चाली ॥ द्रोण ॥ पहचान
द्रव्य दे दुख से मुझे छुडाई । महा । मिला फिर सुख नवी
नाजी । उस दिन से अहो मुनिराज क्रोध दूरा तज दीनाजी
॥ सुर प्रगट होय कर जोड झुका चरणा में । महा० ।
इन्द्र जैसा गुण कीनाजी । तैसाही लखा मैं आज सुफल तेर
भव लीनाजी ॥ दोड ॥ तीनों कुंभ कर के त्यार । दे
हुआस्वर्गपार । तेल लेके अणगार । चल आया तिहां ।
मेटा मुनिवर का रोग । मुनिपती पालजोग । गये प्रथम
देवलोग । काज सुधर गया ॥ मिलत ॥ चौथमल कहे
पूज्य एकलिंग दास गुरुवर धर्म जहाज ॥ परम वैरागी ॥
उनके किया काज सुफल मुनिपति मुनिराज ॥ ९ ॥

इति श्री मुनिपति अचंकारी चरित्र संपूर्णम्

नंबर १० शील परिचय

श्रीमती सती का चरित्र.

तर्ज पूर्ववत

परम मंत्र नवकार सार चौदह पूर्वका भजो त्रिकाल। परमेष्टीके, जाप से हुई फणी की फूलन माल ॥ टेर ॥ नवपद की पूर्ण महिमा वर्णन को नहीं त्रिजगत मझार। इसी मंत्र की, करतहै सेवा सुर पैंतीस हजार। धर श्रद्धा नव लाख जाप चित मन से जो करके नरनार। जिनवर भाखे, उन्हों के जडागये दुर्गति के द्वार ॥ शेर ॥ कथा कहूं में इन परे श्रोता सुनो इक ध्यान से। रत्न पुरि नर सिंह-राजा तास रानी पानसे ॥ शेठ जिनदत्त दुग्व हरन दुखियों का पुष्कल दान से। अंगजाइक श्री मति रानी ने मांगी ज्ञान से ॥ छोटी ॥ रूपादिक लक्षण श्रेष्ट पुण्य से पाई। बालक पनसे ही लगी धर्म के मांई ॥ वो उभय काल की किरिया करत सदाही ॥ गुरु जनकी सेवा मांही कसर दे नाही ॥ कडा ॥ तिण पुरमेजी, एक सुखमल सेठ मिथ्यानी लगी कुगुरु की गलगानी ॥ श्रीमतिकोजी, तिण देखी स्थानक जाती। हुवो विषय अंध मद हाती ॥ मिल ॥ या सुन्दर मुझ मिले तवी में समझूं मेरा जनम निहाल। परमे-ष्टिके ॥ १ ॥ इनका कुल है जैन पंथ का मैं हूं परगट बौध मती। क्यों कर आवे, हाथ ये हम को समझे नीच अती। कुछ दिन का जैनी हो इनको परणूं दिलमें यही रती

उपगर्ण लेके, गयो स्थानकमें जहां थे जैन जती ॥ शेर ॥ सामायकादिक धर्म किरिया कर जणाय उच्छावजी । अग्रआसण आप घर बैठे हिये दुरभावजी ॥ मत्स्य कारण दुष्ट बुगला क़पट खेले दावजी । ऐसे धर्म के धारियों की तिरत कैसे नांवजी ॥ छोटी ॥ लोकोंने सच मुच धरमवीर ठहराया । अहो धन्यभाग्य इस प्राणीका प्रगटाया ॥ मिथ्यात्व छोड वितराग धर्म में आया । क्या शांत धैर्यता निल कुल कौमल काया ॥ कडा ॥ तब कपटीजी, क़पटी यों वाक्य सुनाया । मैं जनम दुष्ट घर पाया ॥ उन संगमेजी, मैं क्यार कर्म कमाया । हा विरथा जन्म गंवाया ॥ मि०॥ एक दिवस निकला इस रस्ते पडा श्रवण में सतगुरु सवाल ॥ परमे ॥ २ ॥ तब से मुझ हिरदे में बसगई परम पवितर जिन वानी । दिल यों चावे, छोड जगजाल सुधारुं जिन्दगानी ॥ एक बात यह सोची परणूं धरम धरा तिरिया ग्यानी । संतति होवे, फेर दोनों दिक्षा लां सुखदानी ॥ शेर ॥ सेठ जिनदत्त चिन्तवे यह श्रीमति के जोडजी । धर्म धारी पूर्णता दरसे नहीं कुछ खोडजी ॥ सहजही वर वर मिला देखूं कहां फिर टोडजी ॥ नगर भर में तो न दीसे करन इस की होडजी ॥ छोटी ॥ बहु धूम धामसे श्रीमति को परणाई । प्रीतम संग बाई चाल सासेर आई ॥ सुसराल भुवन सती देखा निगाह लगाई । वहां कुछ भी रीती जैनी की नहीं पाई ॥ कडा ॥ जल स्थानकजी; गरणे की

। नांई । मकडी की जाल्यां छाई । कंदादिकजी, अभक्ष

घेर घरमांई । मदमंस दिया दिखलाई ॥ मिलत ॥ भ्रष्ट घराना बोधमतीका पापीने रचि कैसी जाल ॥ परमे ॥३॥ मुरछा खा गिरगई सती के लगा घोर हिरदे दुखबान । छिण अन्तरमें, चेतहो करन लगी अति आरत ध्यान ॥ जनम डुबावन यह घर परगट जहांतक नहीं निकले अज्ञान। किया सतीने, सर्वथा उसघर का अनजल पचखान ॥शेर॥ पिहरसे वस्तू मंगा भोगव निकाले कालजी । मा बाप भी खेदित हुया सुन धूर्त की ठग चालजी ॥ संसार साधन में लगे धर धर्म पै हडतालजी । बो अधम निर्थक जन्म ज्यों बन बरा शृंगालजी ॥ छोटा ॥ यों सोच सती धर मौन इकंत बिराजी । सासू आ बोली भोग रसोई ताजी ॥ प्रति उत्तर मिलिया नाहिं कौन नाराजी । सति बोली मुझको मत सताय हो माजी ॥ कडा ॥ सुन चमकीजी, बहुवर क्यों रोस भराई। अभिही लीला प्रगटाई ॥ केई दानीजी, स्यानी तिरिया मिल आई । हर तरह इसे समझाई ॥ मिलत ॥ दिलका दरद न हे बिन बाई हम क्या जाने कौन हवाल ॥ परमेष्टीके ॥ ४ ॥ तब श्रीमति कहे सुन सासूजी मेरे बाप यह नहीं जानी । दुष्ट घराना, दगाकर मुझ लाया पापी प्रानी ॥ कुमतीसे सहवास बांधके कौन बिगाड जिन्दगानी । उठ यहांसे, मातजी मैं नहीं लेती अनपानी ॥शेर॥ भ्रष्ट खाना खा नरक तुम्हहीं पधारो मातजी । मैं जिनेन्द्र उपासिका हूं नगर मे विख्यातजी ॥ नाता अनंता कर लिया अब धर्म आया हाथजी । ना चले मुझ सामने तेरी अनीती बातजी

॥ छोटी ॥ कोपी सासू निरलज तिरछंद लुगाई। मुझ किया घोर अपमान शर्म नही लाई॥ इस लक्षण से घर मालिकनी होजाई। मैं लखली तेरी मोत नजीक जणाई ॥ कडा ॥ जलजलतीजी, आ बोली पुत्तरतांई। अविनीत लुगाई आई॥ सब घरकी जी मिट्टी में बात मिलाई। मैं मरूं कटारी खाई ॥ मिल्त ॥ नहीं तो इनको मार तुझे फिर परणादूं तिरिया तत्काल ॥ परमे ॥ ५ ॥ पति पत्नी को मारण कारण सोचन लगा अनेक उपाय। उसी समयमें, एकनर सरप ले जाता दृष्टी आय ॥ ले सुखमल घाला घट अन्दर मुद्रित कर धरिया घर माय। रइणी मांही, आय कांता से बोला प्रेम जणाय ॥ शेर ॥ जैन मत करुणा करत है जगत जंतु लारजी। तो पिता तुझ काज क्यों भेजा कुसम का हार जी। घट दिखाया दुरमती मति ऊठ गिन नवकार जी। खोलतं हुई पुष्प की माला सुगंधित सारजी ॥ छोटी॥ सति पहिन गले में आई पती के पासे। पति देखतही आश्चर्य हो चित विमासे ॥ था नाग कुंभमें माला ल्याई कहांसे। सौरभकी लपटें छूट रही मालासे ॥ कडा ॥ प्रिया मुझको भी देखन दे कैसी माला। सति गलसे तुर्त निकाला ॥ पियु हाथेजी, दिया हार सुगंधी वाला। हुआ पलट भुजंगा काला ॥ मिल्त ॥ कर फुंकार डसा प्रियतम को पड़ा धरण पे हाय विहाल ॥ परमे ॥ ६ ॥ देख पुत्रको माय जाय बाजार बीच किया शोर जलाल। हा ! सिकोतरी, खागई ाज हमारा सुन्दरलाल ॥ सुन बुड्डी का रुदन सैंकड़ों

मनुष्य आये तिण घर चाल ॥ सती पतीको, प्रथमही नवपद से करदीना न्हाल ॥ शेर ॥ माल धारण कर सती बैठी पती चरणारजी । देख सब जन चकित हो बुद्धीको दे धिक्कारजी । सेठ कहे या महासती कीना सर्प हारजी । प्रगट परिचय लोक सनमुख दिखलाया तिण वारजी ॥ छोटी ॥ हुई घर २ महिमा ये नवपद की माया । सासू पति सतिसे निज अपराध खमाया ॥ अब सत श्रद्धा से श्रावक का पद पाया । आखिर में दिक्षा ले सुरलोक सिधाया॥ कडा॥ गुरु मेरे जी, पुज्य एकलिंगदास सुख दाता । मुखचन्द्र समान दिखाता ॥ पलर मेंजी, मुनि चौथ-मल गुण गाता । मैं सब विधि पाई साता ॥ मिल्त ॥ साल बयासी सीता मह में विचरत आया सेखे काल ॥ परमेष्टि के॥

इति श्री श्रीमती चरित्र संपूर्णम्

नंबर ११ भर्म विध्वंसन

आषाढभूति मुनि का चरित्र

तर्ज पूर्ववत्

बलिहारी उनसत पुरुषों की दर्शन परिसह विजय करे। जिन वचनों पै, धरे सत श्रद्धा भवजल वही तरे ॥ टेर ॥ विपया नंदीमूढ मनुष जिनवचनों में शंका लावे। फल करणी का, मिलेगा यह निश्चय कुण बतलावे॥ स्वर्ग नर्क अरु पुन्य पापकी नास्ती कहे नहीं शरमावे। दुर्गति गामी, घोर दुख देखेगा सुख नहीं पावे॥ शेर॥ ज्ञान बिन श्रद्धा न आवे यह सही कर जानीये। ज्ञान के कमजोर में मत रूढ अपनी तानिये॥ कथा कहुं एक इन परे श्रोता सुगड चित्त आनीये। मगध जिनपद भगुरपुरका जित-शत्रु नृप मानिये॥ छोटी॥ था सालसेन ठाकुर यमुना गृहनारी। तस पूत अखाडो भूत सु बल्लभकारी॥ को दिन संतो की सुन वानी सुखकारी। परणी पदमण गृह तजके दिक्षा धारी॥ कडा॥ एक पूर्वजी, कर लिया कंठ मुनिरा-या। किननायक शिष्य बनाया॥ कमसर सेजी, आचारज का पद पाया। इक चेले अणशन ठाया॥ मिलन॥ गुरु बोले तूं देवलोक में देवहोय दिव सुखवरे॥ जिन वचनों पै ॥१॥ हाल वहां का सर्व तरह मुझ आगे वरनन कर जाना। गया स्वर्ग में, अपछरा भोग बीच वो ललचाना॥ दूजा तीजा और चतर्थो जाय स्वर्गो में विलमाना॥ एक न

आया गुरुजी करत प्रतिक्षा अकुलाना ॥ शेर ॥ ना स्वर्ग ना नर्क है झूंठा सभी जंजालजी । व्यर्थ तपकर तन तपाया जीवयत्ना पालजी ॥ भोग सुख दायक मिली सुन्दर सुभग सुखमालजी । ते छती को छोड पडियो घोर दुख विचालजी ॥ छोटी ॥ अवही रही उम्मर कर लूं ऐश अरामी । दुखडी दयिता को दूं सुख भोग अगामी ॥ लीन्हा घर रस्ता होय भोग का कामी ॥ यह खबर ज्ञान से चौथे चेले पामी ॥ दोहा ॥ सनमुख आ नाटक किया, रह्या गुरुजी जोय । छ महिना वीती गया, गुरु जानी घडि दोय ॥ १ ॥ कडा ॥ समकित से जी, गुरु घर मारग लीना । तब सुर खट् वालक कीना । अंग ऊपर जी, मणि मंडित भूषण पहिना । आ गुरु को वंदन कीना ॥ मिलत ॥ खट काया के नाम छहुं भूषण युत देख विचार कर ॥ जिन वचनो पे ॥ २ ॥ छ काया की दया पालते जिंदगानी वीती कितनी । कुछ नहीं देखा सार अब सहज मिली रकमें इतनी ॥ खेंच खेंच रकमें उनकी भरली पातर में थी जितनी । छऊं को मारा, देख चिंते हुई निष्ट वृत्ती चितनी ॥ शेर ॥ डरणा तो घटमें नहीं अब लाज देखन काजजी । साधवी रचना रची नेवर करत आवाजजी ॥ आय सन्मुख नमन कर कहे वंदना महाराजजी । गुरु कहे कुलक्षणी फिरती फिरे तज लाजजी ॥ छोटी ॥ गहने पे ममता रही भेष क्यों धारा । क्यों धर्म लजावे करके भ्रष्ट जमारा ॥ हां स्वामीजी अब सत्य सुनेन तुम्हारा । तुम झोली में क्या चमक रह्या

अंगारा ॥ कडा ॥ नर घातीजी, महा पापी तूं साधूजी। कंगाल हुवा खो पूंजी । ले जेवरजी, फिर हत्या कीनीदूजी। औरों की गलती सूजी ॥ मिलत ॥ टेल चले आगे सुर रचिया नगर मद्य गुरु पांवभेरे ॥ जिन ॥ ३ ॥ आये सैकडों श्रावक गण किया भाव सहित वन्दन सतकार ॥ धन्य भाग्य है, पुन्य से हुआ सुभागम हम घर द्वार ॥ अशन पान सब तरह त्यार है तारो हमको करुणागार । तदगुरु बोले, हमारे खपे नहीं इस अवसर अहार ॥ शेर ॥ झोली गृहीं खेंचन लगे धोवणही लेलो दालका । गांठ खुल गहना पड्या यह क्या कर्म चंडालका ॥ यह गहना मुझ पुत्रका यह हार मेरे लालका । बिलबिलाहट करन लगिया मात पितु छहुं बालका ॥ छोटी ॥ जेवर के लागे आग पुत्र बतलावो हमछाती फटरही दया करी दिखलावो ॥ तुम साधू होके क्यों पर हियो जलावो । किस ठोड छिपाया मुख से तो फरमावो ॥ कडा ॥ मुनि चिंतजी, मै पुत्र हाथ से मारा । मावित आ भिडगये ज्यांरा ॥ मैं कीनाजी, हा ! कैसा कर्म हत्यारा । अब किसका लूं आधारा ॥ मिलत ॥ अरिहंतादिक शरण लेऊं मैं वो प्रभु मेरी विपत हरे ॥ जिन ॥ ४ ॥ देखी दिल में लाज पुर्णता देव सर्व संकोच लिया ॥ शिष्य भेपकर, आय विधि से गुरु पद में नमन किया ॥ देख गुरु आनंदित होके बोले वत्स किम आये इहां । तब चेलेने, गेय निज दिव्य स्वरूपी दर्श दिया ॥ शेर ॥ स्वर्ग सुख कहूं नाटक पडे इकवार जी ॥ सहस्र दो बारस

जघन्य उत्कृष्ट दश हजारजी । नृत्य देखा माल पट तुम दो घडी ली धारजी ॥ दक्षिणायन से दिखाया उतरायन दिनकारजी ॥ छोटी ॥ सुर स्वर्ग नर्क का वरनन करी सिधाया। मुनि आ लोचनकर निर्मल कीनी काया ॥ अरिहंत साखसे पीछा संयम ठाया । दृढ हुआ डिगे नहीं सुरपति का भी डिगाया ॥कड़ा॥ कर करणी जी, मुनिवरजी मोक्ष सिधाया। सत श्रद्धा से सुख पाया ॥ मैं विचरतजी, नारायनगढ में आया । तहां जोड सभा में गाया ॥ मिलत ॥ चौथमल नित्य पूज्य एकलिंगदास गुरु का ध्यान धरे ॥ जिन वचनों पै ॥

इति श्री द्वितीय आषाढ भूति चरित्र सम्पूर्णम्

(नम्बर १२)

दश श्रावकों का संक्षिप्त चरित्र

॥ तर्ज अष्टपदी ॥

हुआ दश श्रावक महा पुन्यवान । सूत्र में फरमाया भगवान ॥ टेर ॥ उपासक दशा सातवां अंग । जिन्हों मे गृहस्थाश्रम का ढंग ॥ वीर मुख निकसी वानी गंग । बसी सुधरमा घट सुचंग ॥ दोहा ॥ ते कही जंबू शिष्य को, परंपरा इम जान ॥ मैं गुरु मुख से सांभली सते दाखूं लिख ईमान । सुनो तुम श्रोता जन देइ कान ॥ सूत्र ॥ १ ॥ आनंद

वाणिज्य गांव मुझार । तिण घर शिवानंदा नार ॥ द्रव्य सोनैया क्रोडी बार । और गायोंका गौकुल चार ॥ दोहा ॥ द्वादश वृत लिया वीर पै, जिनका बहुत बखान ॥ पडिमा पाली अंत वख्त में उपजा अवधिज्ञान । दिया गौतम को परिचय जान ॥ सू. ॥ २ ॥ दूसरा कामदेव हुआ खास । उन्होंका चंपा नगर निवास ॥ नार भद्रा खट गोकुल तास । क्रोड अष्टादश सुवर्ण रास ॥ दोहा ॥ पिशाच गज भुजंग का दारुण उपद्रव तीन ॥ सहन किया डगिया नहीं सजी रहा धर्म आधीन । सभा में परसंशा वर्द्धमान ॥ सू. ॥ ३ ॥ बनारस चूलनी पिता सुश्रेष्ट । अर्द्धंगीशामा नाम विशेष्ट ॥ चतुर्विंश कंचन गौवर्ग अष्ट ॥ देवता आयो देवन कष्ट ॥ दोहा ॥ कृत सुत त्रय वध कर दिया, मारण लागो मात । तव कोप्यो हल्लो कर उठ्यो, खंभ आगयो हाथ । किया दृढ मा भद्रा देइ ज्ञान ॥ सू. ॥ ४ ॥ बनारस सूरा देव विचार । घर सुवर्ण की क्रोड अठार । गऊ गोकुल षट धन्नानार । प्रगटियो सुर पौसध मंझार ॥ दोहा ॥ तीन पुत्र वध कर कहे, तुझ तन सोला रोग । प्रक्षेपूं तव श्रावक कोप्यो, देव गयो सुर लोक । न र धन्ना दृढ कीना आन ॥ सूत्र ॥ ५ ॥ आलंभिक पुरवर में था घर । चूलशतक बहुला सुंदर । छ गौ गण अष्टादश का जर । अमर आयो पोसध अवसर ॥ दोहा ॥ पुत्र मार तन छांडियो फिर कहे निश्चल जोय ॥ तुझ धन सब बाजार विखेरूं उठा कोपित । किया बहुला थिर डगिया जान ॥ सू. ॥ ६ ॥

पिल कुंड कोलिया धार । नार पुंमा घरमें सुखकार ॥ अठारा क्रोड द्रव्य भंडार । चौपद जिनके साठ हजार ॥ दोहा ॥ गोशालामति देवता, कीन्हा मिथ्या ख्याल ॥ खिष्ट किया तिण उसी प्रश्न को उनके सिर पर डाल ॥ जिन्हों का जिनवर किया बखान ॥ सू. ॥ ७ ॥ पुरी पोलास पुत्र शकडाल गृहिणि अग्नीमित्रा रसाल ॥ तीन कोटीका घर में माल । एक गौवर्ग का यह प्रतिपाल ॥ दोहा ॥ पलट्यो गोशाला-मती, सुन जिन वचन अनूप ॥ नहीं डगिया फिर गोशाला से, जाण्यो सत्य स्वरूप ॥ किया जिन आगम का कल्यान ॥ सू. ॥ ८ ॥ राजगृह महा शतक सुखकार । रेवती परमुख तेरा नार ॥ क्रोड चम्मालीश घर दीनार ॥ अठावीस गोगण को परिवार ॥ दोहा ॥ बारा सौंकों रेवती, मार ममायो कंत ॥ कोपातुर हो श्राप दे दिया । तब गौतम भगवंत ॥ किया शुद्ध दे प्रायश्चित परधान ॥ सू. ॥ ९ ॥ नवम दशवें का कहुं विरतंत । नन्दनी तेतली प्रिय यशवंत ॥ दोउ से सावत्थी नगर बसंत ॥ अश्विनी फालगुनी त्रिय के कंत ॥ दोहा ॥ द्वादश वर कोटी तणा घर कंचन पहिचान ॥ गोकुल चार चार विन उपसर्ग काल किया शुभ ध्यान ॥ प्रथम सुरलोक अरुण विमान ॥ सू. ॥ १० ॥ सर्व की स्वर्ग स्थिति चौपल्य निकल । महा विदेह कुल निर्मल ॥ लोग लेइ काट कर्म दुख दल । मुक्ति में करसी वास अचल ॥ दोहा ॥ सागर जिन सूतर भण्यो । इण में नहीं सब हाल । किंतु मम यह कथन कथा है सूक्ष्म सार निकाल । समझ नहीं है बालक नादान

॥ सू. ॥ ११ ॥ उन्नीसो अठंतर की साल । महा मंगलीक पजूसन काल ॥ छमछरी पर्व विशेष दयाल । सुनाइ दश श्रावक की ढाल ॥ दोहा ॥ पुज्य एकलिंगदासजी तस चरणों का दास ॥ चौथमल ने किया आयकर, गंगधार चौमास ॥ मालवा देश सुखों का स्थान ॥ सूत्र में फरमाया भगवान ॥ सू. ॥ १२ ॥

॥ इति श्री दश श्रावक चरित्र संपूर्णम् ॥

नम्बर १३

(जिनेन्द्र के चौतीस अतिशय)

तर्ज लंगडी

तीर्थंकर तीर्थ के करता जगदाधार जिनेश्वररे । जिनवर महिमा, अजब है चार तीस अतिशय कररे ॥ टेर ॥ केस रोम नख अवस्थित जिनके उज्वल मिष्ट रक्त अरु मांस। काय निरोगी, लेप बिन पद्म कमल ज्यों श्वासोश्वास ॥ अहार निहारनहीं लखे चरम दृग दिव्य चक्र चलता आकास । तीन छत्र सिर, मोतियां झालर युक्त करत परकास ॥ रतन जडित डंडी युत उज्वल चौसठ जोडे चम्मररे ॥ जिनवर महिमा ॥ १ ॥ पाद पीठ युत रत्न सिंहासन श्वेत श्रेष्ट सुंदर सुखकार । सनमुख उंची, रत्नस्थंभ इन्द्रध्वजा जस बहु परिवार । द्वादश गुणा उर्द्ध्व जिनंदके तरु अशोक बहुविध दिस्तार । तम हर रवि से अधिक उद्योत करण भामंडल

सार ॥ समभूमी रमणीक हुवे कांटे उलटे नहीं कंकररे ॥ जिन ॥ २ ॥ शीत ऋतु में उष्ण उष्णमें शीत ऋतु ज्यों सुखद करन्न । जोजन वायु, सुगंधित चले अशुची सर्व हरन्न ॥ रज रेणूं सब दूर हरे सुक्ष्म वृष्टि प्रभु धरत चरन्न । जल-थल जैसे, घुटन तक पुष्प वरसते पंच वरन्न ॥ अमनोज्ञ शब्दादिक मिटकर शुभ प्रगटे तिण अवसररे ॥ जिनवर ॥ ॥३॥ युगलयच्चवर चमर विंजते जोजन वाणी मेघ समान । पट भाषा में देशना अर्द्धमागधी महा परधान ॥ आर्य अनार्य पशु पक्षी सर्पादिक सब समझे गुण कान. पूर्व वैर का त्यागकर सिंह गाय सुनता एक स्थान ॥ अन्य तीर्थी देख प्रभु को नम चरण मे सिर धररे ॥ जिन ॥४॥ वादि आय विवाद करन को देख होय अशक्त अन्यंत । नीति नृपका, होय नहीं उपद्रव सौसौ कोस प्रयंत ॥ मिरगी मार का रोग हुवे नहीं । जनपद में जन सुखे वसंत । दो चक्री का, विघन नहीं होय विचरते श्री भगवंत । कम ज्यादा वृष्टि नहीं होवत सरस रहे भूमीतररे ॥ जिन ॥ ५ ॥ नहीं [illegible] दुर्भिक्ष कदा अरु जो होता कोई पेस्तर जी तुर्त नष्ट हो . धरे जिस जगह चरण श्री जिनवरजी ॥ इत्यन जिना चौतीस अतिशय चौथा अंग में गणधर जी । चरण कमल का दास मुनि चौथमल करता अरजी ॥ गंगधार मे जिन चौमासा उगनीसो अडंसठे ॥ जिनवर ॥ ६ ॥

इति श्री जिनेन्द्र का चौतीस अतिशय संपूर्ण ॥

॥ नम्बर १४ ॥

उपदेशी लावणी

तर्ज पूर्ववत्

दश दृष्टांत् मनुष्य भव दुर्लभ सोच समझ लेना नरनार, विषय भोग में, रतन खो दिया फेर मिलना दुष्वार ॥ टेर ॥ चौरासी लक्ष जीवायोनिमें भटकाया अनंती वार । भवकी-गिनती, केवली भी नहीं सकता निर्धार ॥ जनम मरन निगोद मांय महूर्त में साढा पैंट हजार ॥ काल अनंते निकाथितबंध कटे जब निकला बहार ॥ पुन्य वृद्धि होती गई जब तब उन्नत दशा मिली हितकार ॥ विषय ॥ १ ॥ स्थावर जंगम विकल इन्द्री में छेद भेद ताडन तर्जन । पंचेन्द्रियभव, अनेकानेक विधेरह्यो परवश पन ॥ नर भव आर्य क्षेत्र ऊंचकुल दीर्घ आयू इन्द्रिय पूरन्न । निरायंक तन्न, योग मुनि सूत्र श्रद्धा प्राक्रम फोडन्न । मध्य खंड चौपड का मिलगया चौरासी में कर २ विहार ॥ वि०॥२॥ काम भोग किंपाक क्षणिक सुख बहुत दुखां की खानीरे. चक्री हरी राया, इसी वस हारचले जिंदगानीरे । जो सुख हो सुरपती मनुप की आश करे क्यों प्रानीरे । तूं क्यों ललचाया, स्वान ज्यों हड्डी देख विरानीरे । अम्ब गृद्धि का राज गया कौडी लिये सहस्त्र मोहर गये हार ॥ विषय ॥ ३ ॥ बहुत काल का सोया हुआ तूं अब निंद्रा तज संभाल । अल्प कालमे, टले सब विपत संपत्ति मिले

विशाल ॥ पूज्य गुरु एकलिंगदासजी चौथमल को किया निहाल । साल गुण्यासी, सुनाई आसु तीज दिन प्रातःकाल ॥ दोठाणो अजमेर सहर मोती कटले रहे दिन पट चार ॥ विषय भोग में, रत्न खोदिया फेर मिलना दुष्वार ॥ ४ ॥

इति सम्पूर्णम्

नंबर ॥ १५ ॥

पूज्यवर श्री एकलिंगदासजी महाराज की स्तुति

तर्ज मूंदड़ी की

वन्दों पुज्य परम पुण्यवंत एकलिंगदास मुनीजी ॥ मोटा जिन शासन में शूरवीर गंभीर गुनीजी ॥ टेर ॥ जग तज जोग लिया महाराज परम वैराग्य से जी ॥ निकंद कर्म हरण के काज, होगये आप धर्म की जहाज । गुरु से मिला ज्ञान का साज । तन्निक शिक्षा हिरदे बीच जमाई न्ही चुनीजी ॥ वन्दों ॥ १ ॥ पूज्यवर श्रुत चारित्र दो धे धर्म निधान हो जी । महाव्रत पंच अखंडित धारी । पल समित गुप्त आचारी । निश्चय करी बाल ब्रह्मचारी जिसने किया दर्श वो याद करत है पुनी पुनीजी ॥ वंदों ॥ २ ॥ सागर ज्ञान तणा हो पूर्ण हुन्नर सम्पदाजी ॥ सुंदर सोभावंत शरीर । स्मर्ण शक्ती मति अकसीर । मीठे वचन बरसते खीर । दोचन कला अपूर्व हंसुनी नर बांधे धुनीजी

॥ वंदों ॥ ३ ॥ संग्रह और प्रियोग जिनों के नस २ में भरीजी ॥ पूर आठ सम्पदा धार । सांभ चन्द्र समान दिदार । सकल सुगुण का हो भंडार । कभी न विसरत जो कोई एक वक्त वानी सुनीजी ॥ वंदों ॥ ४ ॥ दाहिण भारत भूं रमणीक देश मेवाड में जी ॥ विचरत मुनिजन के परवार । करते भव्यन पै उपकार । उनको वन्दन वारंवार । किंचित चौथमल संजीत माय कीरति थुनीजी ॥वंदों॥५॥

॥ इति संपूर्णम् ॥

इति श्री जैन नवरत्न किरणावली प्रथम भाग

संपूर्णम्

॥ दोहा ॥

पिंगलगण जाणूं नहीं, व्याकरण का नहीं ज्ञान ।
अशुद्धता अविलोकने शुद्ध करो विद्वान ॥ १ ॥

इस युगमें एकता के बिना कोई भी निश्चित, पूर्ण, तथा प्रतिभा-युक्त कार्य होना सम्भव नहीं है। इस एकताके कार्य के लिये श्रावक तथा साधुगण परस्पर सहकार करके हार्दिक प्रयत्न करें तब ही कार्य सुगम बन सकता है।

उपरोक्त मुनियोंका यह दृढ अभिप्राय है कि वर्तमान में अस्तित्व रखनेवाली सभी सम्प्रदायें या कमसे कम छह या सात मुख्य सम्प्रदाय या सभी सम्प्रदाय के मुख्य २ मुनिवर ऐक्य की इस योजना से सहमत हो तो चातुर्मास के पश्चात् अहमदाबाद अथवा अन्य किसी योग्य क्षेत्रमें शीघ्र ही साधु-समिति का अधिवेशन पुनः भरा जाय। अधिवेशन के लिये स्थल और समय सूचित करें। इस अधिवेशन में समाज हितमें रस लेने वाले तथा भगवान महावीर के शासन के उत्थान की धगस रखने वाले मुख्य २ सभी मुनिवर अवश्य पधारें और इस ऐक्यकी योजना पर विचार करें, आवश्यक सुधार करें और यदि यह सर्वानुमति से या बहुमति से स्वीकृत हो तो चाहे जितने भरसक प्रयत्न करके भी इस योजना को अमली रूप देनेके लिये कटिबद्ध हो जायें। यह सानुरोध प्रार्थना है।

नाम—

इस संघ का नाम "श्री अखिल भारतवर्षीय जैनवीर संघ" या 'श्वे. स्था. जैनवीरसंघ' रखा जाय ?

जैनवीरसंघ के उद्देश्य :—

(१) समस्त श्वे. स्थानकवासी चतुर्विध संघ में परस्पर प्रेम की वृद्धि करके ऐक्य का दृढीकरण करना ।

(२) सम्प्रदायवाद को दूरकर एक ही छत्र के नीचे और एक ही शासन में रह सकने की भावना का विकास करना तथा उसका प्रचार करना ।

(३) आचार-शुद्धि की ऐसी योजना तैयार करनी कि जिस से स्वच्छंदाचार और शिथिलाचार न फैल सकें ।

(४) विद्वानों और लेखकों की एक ऐसी सहकारी प्रवृत्ति अङ्गीकार करनी कि जिस की सहायता से शास्त्रों का संशोधन तथा भाषान्तर हो सके । साहित्य का विकास करने के लिये तथा सामान्य जनता के लिये रूचिकर और प्रिय बनाने के लिये नूतन साहित्य का निर्माण करना ।

(५) जैन धर्म का अभ्यास करने की इच्छा रखने वालों के लिये एक ऐसा पाठ्यक्रम तैयार करना कि जिससे धार्मिक ज्ञान पुष्ट और ठोस हो सके ।

(६) अलग २ मुनिराजों के लिये पृथक् पृथक् पण्डित रखकर अभ्यास करवाने की खर्चालू पद्धति को रोकना

और प्रान्तवार शिक्षण का ऐसा प्रबन्ध करना कि जहां उस २ प्रान्त के मुनि शास्त्रों का आवश्यक सर्व अभ्यास कर सकें ।

(७) जैन संस्कृति का व्यापक प्रचार करना ।

(८) जहां श्रावक वर्ग में कलह या द्वेष भावना हो वहां जाकर एकता के लिये उन्हें उपदेश देना, समझाना और कलह दूर करना । इस प्रकार एकता करवा कर वीर संघ को मजबूत और प्रगतिगामी बनाना ।

(९) मुनिवेष में रहकर या अन्य किसी प्रकार जो जैन शास्त्रों तथा जैन संस्कृति के विपरीत आचार विचार या प्रचार करें उनके लिये रुकावट करना ।

(१०) भिन्न २ संप्रदायों के भिन्न २ मण्डलों का एकीकरण करके एक ही वीर मंडल कायम करना ।

विभागः—

इस जैन वीर संघ के तीन विभाग रहेंगे । :-

(१) श्री वीर श्रमण संघ (साधु तथा साध्वी)

(२) श्री वीर ब्रह्मचारी संघ (गृहस्थ वेषमें ब्रह्मचारी रहकर सेवादेनेवाला वर्ग)

(३) श्री वीर श्रावक संघ (श्रावक तथा श्राविका)

श्री वीर श्रमण संघ.

(१) श्री वीर श्रमण संघ का एक मुख्याधिकारी आचार्य और एक उपाध्याय पांच वर्ष के लिये नियुक्त किये

जायगें। जो सर्वप्रिय, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परम अनुभवी, उत्कृष्टचारित्रवान तथा संघ का सारा भार दक्षता से चलाने में समर्थ हो ऐसे योग्य मुनि इस पद के अधिकारी समझे जावेंगे।

(२) आचार्य तथा उपाध्याय का चुनाव प्रवर्तक मण्डल सर्वानुमतिसे अथवा बहुमति से करेगा।

आचार्य और उपाध्याय के कर्त्तव्य

आचार्य के कर्तव्य इस प्रकार रहेंगे।

(१) सभी प्रांतोंमें विचरने वाले समस्त साधुसाध्वी वर्ग की आचार मर्यादा पर ध्यान रखना।

(२) प्रान्तवार प्रवर्तकों में तथा गणावच्छेदकों में यदि आवश्यकता हो तो परिवर्तन करना।

(३) गणावच्छेदक या प्रवर्तक द्वारा सूचित किये हुए बड़े दोष (मूलगुण) या नियम भंग की जांच करके दोष युक्त साधु साध्वीको योग्य शिक्षा और प्रायश्चित देकर आचार शुद्धि करवाना।

(४) सभी प्रान्तों पर समदृष्टि रखकर निष्पक्ष न्याय देना।

उपाध्याय के कर्तव्य:—

(१) विद्यार्थी साधुसाध्वी वर्ग के पठन पाठन की व्यवस्था करना।

(२) लेखक तथा पण्डित मुनिराजों की प्रगति के लिये व्यवस्था करना।

(३) शास्त्र शोधन के कार्य पर देख रेख रखना और उसे व्यवस्थित कर आम जनता में उसके प्रचार करने का यत्न करना। तथा शास्त्र शोधन का कार्य करने वालों को प्रोत्साहन देना। संक्षेप में आचार मर्यादा का कार्य आचार्य का तथा शास्त्र शोधन साहित्यनिर्माण, पठन पाठन इत्यादि शिक्षण का कार्य उपाध्यायका रहेगा। ज्ञान और क्रिया इन दोनों क्षेत्र पर आचार्य और उपाध्याय की परस्पर सलाह सम्मति से नियंत्रण रहेगा।

प्रवर्तक तथा प्रवर्तिनियां:—

(४) एक आचार्य के लिये समस्त भारत के वीर संघ के मुनि तथा साध्वी वर्ग की पूर्ण व्यवस्था रखना कठिन है इस लिए आचार्य श्री के सहायक तरीके प्रत्येक प्रांत में एक प्रवर्तक और एक प्रवर्तिनी की नियुक्ति की जायगी।

(५) प्रवर्तक तथा प्रवर्तिनीका चुनाव:—यह कार्य साधु साध्वी समुदाय के सर्वानुमति वा बहुमति से होगा। सम्मति प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष (पत्रादि द्वारा) दोनों रूपमें मानी जावेगी।

प्रवर्तक और प्रवर्तिनी की योग्यता:—

(६) क्रिया में कुशल, आचार विचार में विशुद्ध, शास्त्रों में निपुण, चारित्र संपन्न, निष्पक्षपाती, उस उस प्रान्त के

साधु साध्वियों के माननीय, देशकाल भाव के समझने वाले मुनिराज और महासतीजी प्रवर्तक और प्रवर्तिनी बन सकेंगे ।

(७) प्रत्येक सात वर्ष में कम से कम एक महासंमेलन करने का भार प्रवर्तक मण्डल व आचार्य तथा उपाध्याय पर रहेगा । तीन २ वर्ष में प्रान्तीय सम्मेलन भरने का कार्य प्रा. प्रवर्तक का रहेगा ।

(८) प्रान्त प्रान्त के प्रवर्तको का एक प्रवर्तक मण्डल बनाया जावेगा ।

गणावच्छेदक तथा गणावच्छेदिनी की योग्यता:—

(९) आचाराङ्गादि शास्त्रों में निष्णात, उपदेश कला निपुण, श्रोता पर प्रभाव डालकर धर्म और नीति समझाने वाला, समाज सुधारक, समदृष्टि रखनेवाला, सेवा भावी तथा विद्वान मुनि गणावच्छेदक तथा महासती गणावच्छेदिनी रूप में नियुक्त होंगे । ये गणावच्छेदक और गणावच्छेदिनियां प्रवर्तक के हाथ के नीचे रहेंगे ।

(१०) प्रान्त के प्रवर्तक जिन २ साधु साध्वियों को अपने (प्रवर्तक के) पसन्द किये हुए गणावच्छेदक के हाथ के नीचे रहकर विहार करने की आज्ञा दें वहां उन साधु साध्वियों को विचरना होगा ।

(११) सुविधा के लिये समस्त भारतवर्ष नीचे लिखे प्रांतोंमें विभक्त रहेगा:-

(१) कच्छ (२) काठियावाड (३) गुजरात (४) दक्षिण (५) मालवा (६) मेवाड (७) मारवाड (८) अजमेर मेरवाडा (९) हाडोती ढूंढाण (१०) पंजाब (११) यू. पी. बंगाल तथा बिहार

वीरश्रमण संघ में प्रविष्ट होने की विधि—

(१२) वीरश्रमण संघ में प्रविष्ट होनेवाले मुनियोंको वीरसंघकी नयी दीक्षा अंगीकार करनी पडेगी और आत्मसाक्षी से आलोचना करके सच्चे हृदय से अपनी पूर्वकी दीक्षा पर्याय नोंध करवानी पड़ेगी। प्रायश्चित रूपसे जितना दीक्षा-छेद हुआ है उतना कम करने के पश्चात् से दीक्षा पर्याय गिनी जावेगी। जिन साधुओंके लिये प्रकट रूपसे अपवाद फैला हुआ हो ऐसे मुनियों को प्रविष्ट करना या नहीं, प्रविष्ट करना तो किस विधिसे करना यह प्रवर्तक मंडल के बहुमतानुसार आचार्य श्री के अधिकार का विषय होगा।

(१३) प्रांतीय प्रवर्तक के विश्वास और सलाह से आचार्य जिन साधु-साध्वियों को अयोग्य समझेंगे उनको श्री वीर संघ में नहीं लिया जायगा।

(१४) देश प्रदेशमें उपदेश देनेके लिये तथा चातुर्मास के लिये जिस गणावच्छेदक या गणावच्छेदिनी की पसन्दगी की जायगी उस गणावच्छेदक के साथ कमसे कम तीन ठाणा और अधिकसे अधिक ५ ठाणा तथा गणावच्छेदिनी के साथ कमसे कम चार ठाणा और अधिकसे अधिक ६ ठाणा

(१) कच्छ (२) काठियावाड (३) गुजरात (४) दक्षिण (५) मालवा (६) मेवाड (७) मारवाड (८) अजमेर मेरवाडा (९) हाडोती ढूंढाण (१०) पंजाब (११) यू. पी. बंगाल तथा बिहार

वीरश्रमण संघ में प्रविष्ट होने की विधि—

(१२) वीरश्रमण संघ में प्रविष्ट होनेवाले मुनियोंको वीरसंघकी नयी दीक्षा अंगीकार करनी पडेगी और आत्मसाक्षी से आलोचना करके सच्चे हृदय से अपनी पूर्वकी दीक्षा पर्याय नोंध करवानी पड़ेगी। प्रायश्चित रूपसे जितना दीक्षा-छेद हुआ है उतना कम करने के पश्चात् से दीक्षा पर्याय गिनी जावेगी। जिन साधुओंके लिये प्रकट रूपसे अपवाद फैला हुआ हो ऐसे मुनियों को प्रविष्ट करना या नहीं, प्रविष्ट करना तो किस विधिसे करना यह प्रवर्तक मंडल के बहुमतानुसार आचार्य श्री के अधिकार का विषय होगा।

(१३) प्रांतीय प्रवर्तक के विश्वास और सलाह से आचार्य जिन साधु-साध्वियों को अयोग्य समझेंगे उनको श्री वीर संघ में नहीं लिया जायगा।

(१४) देश प्रदेशमें उपदेश देनेके लिये तथा चातुर्मास के लिये जिस गणावच्छेदक या गणावच्छेदिनी की पसन्दगी की जायगी उस गणावच्छेदक के साथ कमसे कम तीन ठाणा और अधिकसे अधिक ५ ठाणा तथा गणावच्छेदिनी के साथ कमसे कम चार ठाणा और अधिकसे अधिक ६ ठाणा

रहेंगे। इस नियम में कोई फेरफार आवश्यक होगा तो महत्वका परिवर्तन प्रांतीय प्रवर्तक आचार्य श्री की आज्ञासे कर सकेंगे।

(१५) चातुर्मास में साधु तथा साध्वी खास कारण के विना तथा आचार्य की आज्ञा विना एक ही गांवमें नहीं रह सकेंगे।

(१६) अलग साहित्य प्रकाशन करना, तथा खानगी पुस्तकें सूत्र आदिका भण्डार रखना एकदम बन्द कर देना पडेगा।

प्रायश्चित देने वाले:—

(१७) वीर श्रीसंघ की जो समाचारी होगी वह व्यवस्थित और सर्वमान्य होगी। उसके अनुसार ही सब साधुसाध्वियोंको वर्ताव करना पडेगा। जो साधुसाध्वी भूल करेगा तो छोटे अपराधों के लिये गणावच्छेदक प्रायश्चित देंगे। बडे तथा गम्भीर अपराधों के लिये प्रवर्तक प्रायश्चित फरमावेंगे। इसके उपर प्रायश्चित कम अथवा अधिक करने का अधिकार आचार्य का रहेगा। प्रवर्तक से कोई दोष सेवन हो जाय तो प्रान्तीय प्रवर्तकों की सम्मति से आचार्य उसकी शुद्धि करेंगे। जो प्रायश्चित आचार्य दें वह मान्य करना होगा। कदाचित् आचार्य या उपाध्याय से नियम विरुद्ध कार्य सेवन हो जायगा तो प्रवर्तक मण्डल की सर्व सम्मति या ३/४ बहुमत से शुद्धि मार्ग निश्चित किया जायगा।

(१८) इस संघ के साधु साध्वियां श्री वीर संघ के नाम से ही समकित दें। वीर संघ के आचार्य में धर्माचार्य की श्रद्धा करावें। तथा श्रावक श्राविकाओं को ऐसी शैली से उपदेश दें कि जिस से एकतंत्र की संगठित भावना प्रवर्तित हो और सहज ही समाज हित हो।

दीक्षा विषय :—

(१९) जो पुरुष अथवा स्त्री दीक्षा लेने के लिये तैयार होगें उनका कुल, ज्ञान, प्रकृति, वैराग्य, शरीर संगठन, सहनशीलता, और पात्रता आदि की करने योग्य सामान्य परीक्षा प्रवर्तक करेगें और विशिष्ट परीक्षा आचार्य श्री स्वयं करेगें या अपने को योग्य लगे उन मुनिराज की मारफत करावेंगें। दीक्षा लेने वाले के माता पिता, या संरक्षक, या नजदीक क सम्बन्धियों की सम्मति आदि सुयोग कारण मालूम होंगे तभी आचार्य श्री दीक्षा के उम्मेदवार को दीक्षा ग्रहण करने के लिये आज्ञा देंगे। आचार्य श्री की आज्ञा विना कोई भी साधुसाध्वी दीक्षा दे सकेगें नहीं।

(२०) नवीन दीक्षा लेने वाले, तथा नयी समकित लेने वाले श्रावक गण श्री वीर संघ के आचार्य पद के शिष्य माने जावेंगे।

(२१) हस्त लिखित शास्त्र, पुस्तकें, पाने तथा अन्य साहित्य और उपकरण आचार्य श्री की सत्ता और देखरेख नीचे रहेंगे। जिन साधुसाध्वियों को आवश्यकता होगी वे गणावच्छेदक या प्रवर्तक द्वारा आचार्य श्री के

पास से ले सकेगें। वीर श्रमण संघ को छोडकर जानेवाले को ऐसा कोई भी शास्त्र, ग्रन्थ या उपकरण साथ में ले जाने का अधिकार नहीं होगा।

(२२) वीर संघ के आचार्य जिन साधुसाध्वी को श्री वीर श्रमण संघ से पृथक् कर देगें उन साधु साध्वियों को किसी भी गांव का वीर संघ आदर मान देगा नहीं। व्याख्यान सुनेगा नहीं, साधुसाध्वी की तरह स्वीकारेगा नहीं। और रहने के लिये उपाश्रय आदि भी देगा नहीं। वीर संघ अपने साधुसाध्वी गिन कर कोई व्यवहार नहीं करेगा।

(२३) आचार्य श्री की आज्ञा विना कोई भी साधु साध्वी वीर श्रमण संघ से अलग नहीं किया जा सकेगा। किन्हीं खास संयोगों में, जब कि किसी साधुसाध्वी का व्यवहार अत्यन्त सदोष प्रतीत होता हो और आचार्य श्री की आज्ञा आने में देरी लगने की सम्भावना हो तब गणावच्छेदक या प्रवर्तक उस साधुसाध्वी से वन्दन व्यवहार रखना मना कर सकते हैं। स्थानिक संघपति और श्रावक श्राविकाओं से ऐसे साधुसाध्वी के साथ थोडे समय के लिये साधुता का व्यवहार न रखने का कह सकते हैं परन्तु किसी भी अवस्था में आचार्य श्री की आज्ञा विना किसी को श्रमण संघ से बहार निकाल सकेगें नहीं। सभी संयोगों में आचार्य की आज्ञा के अनुसार ही करना पडेगा।

६) वीर श्रमण संघ की जो समाचारी होगी वह शास्त्र सम्मत, देशकाल क्षेत्र भावके अनुसार होगी। लौकिक, लोकोत्तर, अपवाद उत्सर्ग आदि सभी बातो को लक्ष में रखकर ही समाचारी का निर्माण किया जायगा। समयानुसार समाचारी में तथा नियमों में आचार्यश्रीकी प्रमुखता में प्रवर्तक मण्डल की सर्वानुमति या ३/४ बहुमति से हो सकेगा।

७) आचार्य उपाध्याय, प्रवर्तक, गणावच्छेदक और साधुमंडल परस्परसें प्रेम तथा उदारता का व्यवहार करे ताकि संघ अविभक्त रहकर प्रगति कर सके।

८) वीर संघ में सम्मिलित होनेवाले श्रावक संघोमें से प्रत्येक प्रांतसें चुने हुए प्रतिनिधि श्रावकों की एक व्यवस्थापक कमिटी नियुक्त की जायगी। इस कमिटि का कार्य श्रावक संघकी पूर्ण व्यवस्था करने का रहेगा।

प्रत्येक मुख्य २ मुनिवरों, महासतियों तथा सम्प्रदाय जिम्मेदार श्रावकों से विनम्र विनति की जाती है कि प इस योजना के कच्चे खरडे को पढकर विचार कर ा ऊहापोह करके आपके विचार और जो आपको सुधार र परिवर्तन योग्य मालूम हो, वह बाजूके रिक्त स्थान पर खकर यथाशक्ति शीघ्र भेजने की कृपा करें।